मनोरंजन पुस्तकमाला-६

संपादक

श्यामसुंदर दास, बी० ए०

प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

जीवन के आनंद

लेखक

गणपत जानकीराम दूबे, बी० ए०

१६२२

भारतजीवन प्रेस, बनारस में मुद्रित

मूल्य १)

मुखबंध।

सर जॉन लबक के Pleasures of Life नामक ग्रंथ की उत्तमता का परिचय अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञाता लोगों को कराने की आवश्यकता नहीं है। सर जॉन ने अपने ग्रंथ में उत्तमोत्तम विचार संगृहीत करके अपने ग्रंथ को अलंकृत एवं रमणीय बनाया है। परंतु उनमें सबके सब विचाररत्न पश्चिमी देशों के तत्वज्ञ, विद्वान् और अनुभवी पुरुषों के होने से हमें अपने भारतवर्षीय महात्माओं के विचारामृत से जो आनंद और स्वाद प्राप्त होता है उतना उन यूनानी, रोमन अथवा आँग्ल पुरुषों की परकीयता के कारण नहीं हो सकता। इस लिये जहाँ जहाँ साम्य प्राप्त हुआ भारतवर्षीय महात्माओं के वचनों को भी संगृहीत किया है और जहाँ साम्य नहीं मिला अथवा हम पाने में असमर्थ रहे वहाँ उन भावों का अपनी मातृभाषा में अनुवाद करके मूल विचार के विकासकर्ता का नाम नीचे दिया है, जहाँ कहीं अनुवाद नहीं बन पड़ा वहाँ मूल के सौंदर्य को भ्रष्ट करने का साहस नहीं किया है, भाव मात्र दे दिया है। यह विचार रत्नमाला जिसका नाम हमने "जीवन के आनंद" रक्खा है आज हिंदी भाषा के प्रेमी सुपूतों का कंठ-भूषण होने के अर्थ उन्हें पहिनाई जाती है। आशा है कि यह अनुसूया के अर्पित सीतादेवी के चिरस्थायी

आभूषणों की तरह पाठकों के आनंद-भवनों को आनंदमय बनाती रहेगी।

इस ग्रंथ के लिखने में हमें महाराष्ट्र भाषा की "संसार सुख" नामक पुस्तक से बहुत सहायता मिली है क्योंकि भारतवर्षीय महापुरुषों के वाक्यरत्नों का उस ग्रंथ में स्थान स्थान पर संग्रह किया गया है। हम को उक्त ग्रंथ के प्रकाशक महाशय से उसकी सामग्री का उपयोग करने की अनुमति मांगनी पड़ी जिसे उस महाराष्ट्र-साहित्य-सेवी वीर ने सहर्ष प्रदान किया। इस कृपा के लिये हम उनको हृदय से धन्य-वाद देते हैं।

—लेखक।

सूची ।

जीवन के आनंद।



१—सुख दुःख।

यथाकारी यथाचारी तथा भवति।

साधुकारी साधु भवति, पापकारी पापी भवति।

—बृहदारण्यक।

भावार्थ—जो जैसा आचरण वा कर्म्म करता है वह वैसा ही हो जाता है। पुण्य कर्म करनेवाला भला, पुण्यात्मा और पाप कर्म करनेवाला पापी होता है।

परमात्मा ने हमको जन्म दिया, यह उसकी बड़ी कृपा समझनी चाहिए। हमें जब कुछ समझ आती है तो हम इस बात का विचार करने लगते हैं कि हमारे जीवन का प्रधान हेतु क्या है? "समाज के अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक सुख देना"—इस आधुनिक मत के जो लोग अनुयायी नहीं हैं वे भी इस बात को मानते हैं, कि हमारे भाइयों के सुख में जहाँ तक हो सके वृद्धि करना हमारा कर्तव्य है। परंतु अपने सुख के लिये भी श्रम करना चाहिए या नहीं, इस विषय में बहुतेरे लोगों को निश्चय नहीं होता। वस्तुतः

अपने ही सुख की इच्छा रखना योग्य नहीं, और यह भी नहीं है कि निरी इच्छा करने ही से सुख मिल जाता है। यह बात नहीं है कि इस जीवन में सुख कुछ कम होता है, परंतु हम लोगों के उस सुख के अधीन होने से वह सुख ही दुःख का कारण बन जाता है। सेनेका ने कहा है कि "सुख और दुःख ये दो बड़े कठोर और बुरे शासनकर्ता हैं। इनका एक बार हमारे ऊपर अधिकार जम जाने पर हमारी पराधीनता का फिर अंत नहीं रहता और ये दोनों एक के बाद एक, अपना कठिन शासन हम पर करने लगते हैं।" परंतु हमारे उपदेष्टा लोग यदि हमें ये ही दो सिद्धांत सिखावें कि सुख प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य के करने से सुख प्राप्त होता है तो हमारी जीवनयात्रा अधिक सुखमयी होगी। अगर हमारा चित्त आनंद में रहे तो उससे दूसरों के सुख में बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है। इसी कारण हमसे जितना आनंदित रहते बने उतना रहना चाहिए। हँसमुख और खुश-मिज़ाज़ मित्रों का समागम कितना सुखकर होता है, इस बात का सब लोगों को अनुभव है। इस संसार में रह कर राजमंदिर के सुख अथवा यमलोक की यातनाएँ भोगना, ये दोनों बातें अपने ही अधीन हैं।

अपनी किस्मत को खोटा मानने और काल्पनिक दुःख से अपने को दुःखी बना लेने में ही कई लोग संतोष मानते हैं, परंतु अपना स्वभाव आनंदमय बनाए रखना बहुत लोगों से

सहज में नहीं बन पड़ता। आनंदित वृत्ति को बनाए रखना भी एक कला है। उसे प्राप्त करने के लिए अपने आपको उससे भिन्न कोई अन्य व्यक्ति समझ कर अपने आप पर भली भाँति नजर रखनी पड़ती है और अपने वर्ताव को इच्छित मार्ग में लगाने के लिये श्रम करना पड़ता है।

इस संसार में सुख और दुःख की एक अनोखी मिलावट देख पड़ती है—

गत सुख को हिय सोच अरु, होनहार सुख हेत।
जो पायो नहिं ताहि की, चाह दुखी करि देत ॥ १ ॥
हुलसि हुलसि हँसिकै लखै, दुख छाया मुख छाइ।
गावत मंजुल गीत परि, शोक कथा भरि आइ ॥ २ ॥

लोग कहते हैं कि अँगरेजों की वृति स्वभाव ही से खिन्न होती है और उन्हें आनंद में मग्न होते समय भी यदि देखा जाय तो उनकी आकृति खिन्नता की छाया से छाई हुई मालूम होती है। परंतु ध्यान से देखा जाय तो पौर्वात्य देशों में रहने-वाले लोगों की रहन सहन में ही अधिक खिन्नता दिखाई देती है। उमर खय्याम के काव्य में जो उद्गार पाए जाते हैं उनके समान खिन्नता-भरे विचार कहाँ मिलेंगे?

इस अपार भव बीच टिका जो कुछ दिन आ कर।
रहा अनेकों दुख और चिंता से जर्जर ॥
चला छुड़ाने जन्ममरण का बंधन भारी।
रहा दुखी का दुखी थकित हो मति गति हारी ॥

चलता चलता पवन पथिक ज्यों श्रांत हुआ है।
कभी नहीं विश्राम शांति ने उसे छुआ है॥
सिर धुन धुन कर वह विलाप करता रहता है।
त्यों यह जीव विराम नहीं जग में लहता है॥

इन विचारों को यदि सत्य माना जाय और यह संसार यदि सचमुच ही कष्टमय हो जाय तो जिस मोक्ष की अवस्था में चेतना ज्ञान इत्यादि सब नष्ट हो जाते हैं और जिसमें दुःख का भी नाश होता है, यदि लोग उस निर्वाण या मोक्ष का साधन करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

परंतु इन उपदेशकों की शिक्षा पर विश्वास करके और यह मान कर कि इस दुनिया में दुःख के सिवाय और कुछ भी हमारे भाग्य में नहीं बदा है, हतोत्साह हो जाने की अपेक्षा जिस शिक्षा से मनुष्य-जन्म की श्रेष्ठता बढ़ानेवाली और हमारे मन को उत्साहित करनेवाली सद्गति की आशा उत्पन्न हो उसकी ओर हमें अधिक ध्यान देना चाहिए।

किसी तरह उदरपूर्ति करके अपने दिन पूरे करना ही जीवन की इति कर्तव्यता नहीं है। अगर हमारे जीवन का अच्छा उपयोग हुआ तो समझना चाहिए कि हमारा जन्म सफल हुआ। कई लोगों के जीवन में यह बात देखने में आती है कि उन्होंने अपने जीवन-काल में अपना कर्त्तव्य ही निश्चय नहीं किया। जिस तरह गंगाप्रवाह में डाला हुआ फूल इधर उधर झकोरे खाता हुआ जाता है उसी तरह कितने ही लोगों

का जीवन भी अव्यवस्थित और अनिश्चित पाया जाता है। होमर ने कहा है—"किसी तरह जीवित रह कर जीवन पूरा करने को ही कृतकार्य होना समझ लें और हाथ पैर न हिलाएँ तो क्या उन्नति हो सकती है? उपयोग में आनेवाली धातु जैसे चमकीली रहती है उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में उत्तरोत्तर उसका उदय न होना बड़ी शोचनीय बात है।"

आयु की बड़ाई और छोटाई का हिसाब बरसों की संख्या से नहीं करना चाहिए। आयु छोटी ही क्यों न हो परंतु उसे ही जिसने बहुत विचार, अनेक आचार और बड़े पराक्रम के काम किए हों, बड़ी उम्र का समझना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो संसार अवश्य ही सुखमय और विलोकनीय प्रतीत होना चाहिए।

यदि अपनी शक्ति के अनुसार हम उद्योग करें, क्षुद्र बाधाओं का व्यर्थ भय न मानें, परिस्थिति के सच्चे स्वरूप का ध्यान दे कर निरीक्षण करें और अपने आस पास सहज में मिलनेवाले सुख के उपकरणों को अपनावें तो यह विचार अवश्य ही पैदा होगा कि यह जन्म एक अनमोल देन है जिसे परमात्मा ने हमको दिया है। परंतु बहुतों को इस दुर्लभ जन्म का और ईश्वर की कृपा का कुछ भी कुतूहल नहीं होता। जो यह जगद्विस्तार है उसे अपने इच्छानुरूप जो अपने अधीन कर सकते हैं, उन्हें इसकी सुंदरता और विशालता की कल्पना नहीं होती। "नर जो निज करनी करे, नारायण हो जाय," अपनी इतनी

असीम शक्ति होने पर भी मनुष्य अपनी श्रेष्ठता को नहीं देखते, दुःख और क्लेशों पर विजय पा कर सुख और शांति को प्राप्त करने की योग्यता अपने ही पास होने पर भी वह उनकी समझ में नहीं आती। जो मनुष्य केवल बेपरवाही के कारण अपने अधीन सुखों के उपकरणों का सदुपयोग नहीं कर लेते वे बड़े दोषी गिने जाते हैं—

प्राप्त सुखों को नहीं जीव जो गिनती में कुछ लाता है।
वह अपने आगम को खोकर सदा दुःख ही पाता है।
जिसने अपने जीवन-धन को व्यर्थ मान कर नष्ट किया।
सुख से धोकर हाथ दुःख का गट्ठर उसने बाँध लिया।

—दाँते।

रस्किन ने लिखा है—"इस दिव्य जगत् की अलौकिक सुंदरता हमारे नित्य के सहवास की वस्तु हो जाने से हमें उसका ध्यान नहीं रहता; यदि कदाचित् हुआ भी तो उसके विषय में हमारे अंतःकरण में कृतज्ञता जाग्रत नहीं होती। साधु जन उपदेश करते हैं कि ईश्वर अत्यंत कृपालु है परंतु जिन उपकरणों से ईश्वर का प्रेम प्रत्यक्ष और तत्काल अनुभव में आ सकता है, उनको वे नहीं बताते। वे कहते हैं कि क्षुद्र जंतुओं की तरह हमें भी ईश्वर खाने को अन्न, पहनने को कपड़ा और शरीर को आरोग्य देता है परंतु ऐसा उपदेश वे नहीं करते कि ईश्वर की लीला का ऐश्वर्य समझने की शक्ति अकेले मनुष्य में ही है और इस लिये हम उसके परम ऋणी

हैं। एकांत स्थान में बैठ कर भगवल्लीला का चिंतन करने के लिये तो वे कहते हैं परंतु उसी लीला को बाहर वनोपवनों में जाकर देखने के लिये नहीं कहते। संयम करने को वे कहते हैं परंतु वे यह नहीं कहते कि सुख प्राप्त कर लेना भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। सच पूछिए तो ऐसा उपदेश हमारे उपदेशकों को करना चाहिए, क्योंकि ईश्वर ने संसार की ऐसी रचना की है कि उससे समझदार तथा विचार करनेवाले मनुष्य को सुख ही मिलना चाहिए, फिर उस सुख का वह अनादर क्यों करे? वनों में पक्षी गाते हैं। हवा सन सन बहती है। झरने झरते हैं। यदि मनुष्य ध्यान दे तो उसे जान पड़ेगा कि इन सब के शब्द मानों ईश्वर ने उसके लिये गीत के मधुर स्वर ही बनाए हैं, नहीं तो वे ही उसे नीरस प्रतीत होंगे और वह उनका अनादर करेगा और फलतः इन सबों में दिखाई देनेवाली परमेश्वर की कृपा को वह लुप्त कर देगा।

यदि हम अपने जीवन की आलोचना करें तो बार बार हमें यही प्रतीत होगा कि सुख के साधन का आया हुआ समय हमने हाथ से खो दिया। जो मनुष्य अपना जन्म सुख में व्यतीत नहीं कर सकता उसके शरीर धारण करने पर भी उसे पिशाचवत् छाया रूप ही समझना चहिए। हमें दुःख देने में हमारे स्वतः के अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं। जो दुःख हमें होता है वह हमारे हाथ है क्योंकि निज के अपराध के सिवाय और कभी हमारी हानि नहीं होती। मार्कस आरी-

लियस ने लिखा है–"सुख उपजाने के सब साधन ईश्वर नें मनुष्य के अधीन रक्खे हैं।" इपिक्टेटस ने कहा है–"जो घटना होती है वह योग्य ही होती है क्योंकि परमात्मा जो कुछ कराता है वह बुद्धिमत्ता के साथ ही कराता है। ऐसी इच्छा मत करो कि तुम्हारे इच्छानुरूप घटनाएँ हुआ करें। यह समझ लो कि जो कुछ होता है वह हितकारक है। इससे तुम्हारा जीवन सुख से बीतेगा। यह समझ रक्खो कि दूसरे की वस्तु की इच्छा करते ही तत्काल तुम्हारी वस्तु नष्ट हो जायगी।"

यद्यपि कहा गया है कि हमारे दुखों के कारण हम ही हैं परंतु बहुधा देखा गया है कि दुःख, चिंता रोग इत्यादि बाहरी कारणों से भी होते हैं। जैसे अत्यंत प्रेमी संबंधियों का वियोग, उनका हमारे साथ अप्रसन्न होना अथवा उनका दुराचार के कार्य में प्रवृत्त होना इत्यादि अनेक बातें हैं जिनसे हमें दुःख होता है। यदि किसी ने कडुवा वचन कहा तो हमारा मन दिन भर के लिये खिन्न हो जाता है। स्वदेश-भक्त हेगेल उस युद्ध की वार्त्ता जिसमें उसका देश नष्ट हो गया था, अपने ग्रंथ की समाप्ति के दिन नहीं पा सका, इससे वह ग्रंथ समाप्त कर पाया, नहीं तो अगर उसी दिन वह बात उसे मालूम हो जाती तो क्या वह दिन उसका दुःख में न बीतता? तात्पर्य यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि सुख सर्वथा हमारे ही हाथ में है।

हमें चाहिए कि हम आकाशस्थ तारों का अनुकरण करके अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करें—

सदा एक-रस शांति गगन में भरी दिखाती।
वहाँ सभी की वृत्ति एक ही पथ पर जाती॥
अपने अपने कार्य्य लगे सब ग्रह नक्षत्र गन।
वे पर-वैभव देख नहीं होते उदास मन॥
रहते निज अनुरूप विश्वसेवा में तत्पर।
शासन के प्रतिकूल नहीं चलते हैं क्षण भर॥
ऐसे ही यदि करें लोकसेवा नर नारी।
तो होवे नरजन्मसफल, जग मंगलकारी॥

—म्याथू आॅर्नाल्ड।

ऊपर के इन पद्यों में जो रहस्य बतलाया गया है वह यद्यपि सत्य है तो भी यदि कोई समाज को छोड़ कर अलग रहना चाहे तो नहीं रह सकता। मनुष्य का स्वभाव निसर्गतः समाज का इच्छुक है। उसे किसी न किसी की संगति अवश्य चाहिए। वह किसी द्वीप की तरह जुदा नहीं रह सकता। जब तक उससे अन्य जनों का समागम न हो वह सुखी नहीं हो सकता। अपने भाइयों के हित अहित की ओर ध्यान न देकर यदि वह उदासीन और अलग रहेगा और दूसरों के दुःख का भागी नहीं होगा तो वह उनके सुख और भाग्य को देख आनंद लाभ करने से भी वंचित रह जायगा।

नर-शरीर में रत्न वही जो पर दुख साथी।
खात पियत अरु खसत श्वान मंडुक औ भाथी॥

—भारतेंदु।

केवल स्वार्थ ही का अवलंबन करके यदि हमने पर दुःख से अपने अंतःकरण को पसीजने न दिया तो संसार में होनेवाले कितने ही शुद्ध और सात्विक सुखों को हम तिलांजलि दे देंगे; दूसरे का देख जिनके हृदय द्रवीभूत नहीं होते उन्हें सुख मिलना असंभव है।

हमें जो संकट प्राप्त होते हैं वे सर्वदा सच्चे संकट नहीं होते, बल्कि उन्हीं में हमारा लाभ नियत होता है। जिस आपत्ति का सच्चा मर्म समझ में न आवे उसके अविचार के कारण दुःख न मान कर उसके अंतर्गत होनेवाले सुख और लाभ की ओर ध्यान अवश्य देना चाहिए। "आत्मा को एक स्थान में मज़बूती से जड़ देने के लिये सुख और दुःख दो कीलें हैं।" दुःख किसी भावी संकट का सूचक है। यदि ऐसा न होता तो हमारे लिये जीवित रहना ही कठिन हो जाता, और हमारे पास के सुख के उपकरण हमारे ही नाश के कारण बन जाते।

जिन लोगों ने भली भाँति विचार नहीं किया है उनकी यह समझ है कि हमारे शरीर का भीतरी भाग नाज़ुक है इससे हम शरीरधारी जीवों को सुख और दुःख का परिणाम बहुत शीघ्र मिलता है परंतु यह बात सत्य नहीं है। हमारे शरीर की ऊपरी त्वचा ही सचमुच बहुत नाज़ुक और कोमल है और

पास आनेवाले दुःख की एक पहरेवाले की तरह सदा सूचना देती रहती है, परंतु उसके भीतर का मांस, रग पट्ठे इत्यादि जब तक नीरोग हैं तब तक उन्हें सुख दुःख की खबर तक नहीं रहती।

इस बात पर तो हम वाद विवद करते हैं कि संकट का मूल क्या है परंतु हमसे संकट के स्वरूप का विचार नहीं किया जाता। हम कहते हैं कि हमें जो क्लेश और दुःख होते हैं वे अंत में सुख के कारण होते हैं परंतु क्वचित् ही हम समझते हैं कि वे स्वयंसिद्ध हितकारी हैं। तथापि यह ज्ञान अनुभव ही से प्राप्त होता है और मनुष्य को जब तक सर्वदर्शी देवता न बना दिया जाय तब तक वह ज्ञान बिलकुल न होगा। संभव है कि मनुष्य जिन क्लेशों को सहता है वे अंत में उसे कल्याणकर हों तथापि इसमें संदेह नहीं कि व्यवहार में उनका जो रूढ़ अर्थ है और जैसा हम सब समझते हैं, वैसे वे नहीं हैं।

जिन लोगों का विचार है कि बिना ईश्वर की इच्छा के एक पत्ता तक नहीं हिलता, उनकी यह बात हुई, परंतु, जिन लोगों का यह मत नहीं है उन्हें भी यह मानना पड़ेगा कि जगत् की परिपाटी जिन नियमों पर निर्भर है वे नियम सर्वसाधारण रूप से सबके हितकारी हैं, और इस प्रकार समझना संतोष का कारण होगा। यदि मान लिया जाय कि हमारे ऊपर दुःखों का आघात होना ही हमारे भाग्य में बदा है तो भी संतोष ही कर लेना चाहिए।

दुख में सुख मानि चले चलिए,
धरि निश्चल ध्यान प्रभू को हिए।
अरु धीरज धारे सदा रहिए,
निज आत्म अनंद में चित्त दिए।
रखिए थिर वृत्ति सदा चित की,
सुविचार विवेक हिये धरिए।
सुख की निज औधि बढ़ावन हेतु,
सदा यहि जीवन को भरिए॥

—डिवेरी।

यद्यपि हम यह मान नहीं सकते कि यह जीवन-यात्रा सुखमय होगी तथापि उसे हम बहुत कुछ सुखदायी होने योग्य बना सकते हैं। प्राप्त आपत्ति का धीरज के साथ सामना करने ही से वही आपत्ति अंत में कल्याण देनेवाली बन जाती है और जहाँ पर बना बनाया काम बिगड़ कर अत्यंत विनाश हो जाता है वहीं से फिर भाग्य का उदय होने लगता है। हेमहोल्ड नामक एक मनुष्य एक बार नव ज्वर से पीड़ित होकर अस्पताल में गया। वह विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी था, इस कारण उसका इलाज आदि सब मुफ्त में किया गया। इतने समय में उसकी छात्रवृत्ति में जितनी रकम की बचत हुई उसके द्वारा उसने एक सूक्ष्मदर्शक यंत्र अर्थात् दूरबीन मोल ली। उसके प्राप्त होते ही उसे ज्ञानार्जन की चाट पड़ गई और आगे चल कर वह बड़ा विज्ञानवेत्ता हो गया।

तात्पर्य यह है कि जो नव ज्वर अनिष्ट सा प्रतीत होता था उसी का परिणाम आगे चल कर कैसा हितकारी हुआ, यह बात पाठकों की समझ में सहज में आ जायगी।

रुसवान रोला नामक जगद्विख्यात् मनुष्य ने जिस सांसारिक आपत्ति में अपने दिन काटे उससे भिन्न अवस्था में उसने अपनी जीवन-यात्रा निःसंदेह सुख से व्यतीत की होती, परंतु उसका नाम इतिहास में अमर न होता। उसने अपने आचरण से जाति के लिये जो आदर्श मनुष्य खड़ा कर दिया वह भी उससे करते न बनता। परंतु उस पर आपति पड़ी, इससे उसका हृदय विदीर्ण हो गया और दुखातिरेक से वह भुन गया। जो दुख काँटे की तरह दुखदायी हुआ वही उसकी कीर्ति अजर और अमर करने का तथा उसका गौरव बढ़ाने का कारण हुआ। एक स्त्री पर वह प्रेम करता था। वह कैसे प्राप्त हो, इसी चिंता में वह सूखा जाता था। परंतु जिस समय उसका रूप और व्यवसाय पसंद न होने के कारण उस स्त्री को उसके मातृपक्ष के लोगों ने उसे देना स्वीकार न किया उस समय उसे मरने से भी अधिक दुःख हुआ। वही उसकी चिरकालिक कीर्ति का कारण हुआ।

दुखः का अस्तित्व स्वीकार करके वह क्यों होना चाहिए, इत्यादि प्रश्नों पर बहुत समय से लोग विचार करते आए हैं। एक कहता है कि जगत् में दुष्ट पिशाच हैं, वे दुःख देते हैं। यूनान के लोग मानते थे कि देव दानवों में द्वैत और द्वंद्व भाव

है इस कारण दुःख की उत्पति होती है। किसी किसी ने यह अनुमान किया है कि दुःख और सुख देनेवाली कोई दो परस्पर विरुद्ध दैविक विभूतियाँ हैं। हम लोग भी मानते आए हैं कि पूर्व जन्म में किए हुए कर्म ही दुःख के बीज हैं।

परंतु कर्म की स्वाधीनता मानने से उसी के अंतर्गत दुःख का होना स्थिर होता है क्योंकि मनुष्य जैसा आचरण करगा वैसा ही उसे सुख अथवा दुःख होगा। जिस प्रकार दो और दो का जोड़ा पाँच नहीं होता उसी प्रकार मनुष्य की रचना जिस प्रकार की गई है उससे भिन्न प्रकार का फल होना असंभव है। इपिक्टेटस ने जुपीटर के मुँह से मनुष्य को उपदेश कराया है कि —"तुम्हें किसी प्रकार का उपसर्ग न हो इस योग्य तुम्हारा शरीर और स्वभाव मुझे निर्माण करना आता तो मैं वैसा ही बनाता। परंतु मुझ से ऐसा करते न बना, इस लिये मैंने अपना अल्प अंश तुम में रख दिया है।"

यह अल्प अंश आत्मा है। इस देन का बुद्धिमानी के साथ उपयोग करना हमारा कर्तव्य है। हमारे हाथ यह एक अमूल्य भांडार लगा है। मनुष्य को आत्मा के समान कोई अन्य उत्तम वस्तु कभी प्राप्त नहीं हुई। उसका पालन किस प्रकार किया, यह कर दिखाने का काम मनुष्य का है। वह बुद्धिमान है, इससे मूर्खता के कारण अथवा बेपरवाही से जीवात्मा के समान अत्यंत दुर्लभ वस्तु को नष्ट न होने देगा।

इसके सिवा दुख चाहे सर्वथा दूर न करते बने तथापि

यह बात हर एक के अधीन है कि यह जीवन-यात्रा कल्याण-कारिणी और उपयुक्त हो जाय अथवा अनिष्टकारिणी और अनुपयुक्त हो जाय, क्योंकि समझदार लोग विवेक के साथ तत्काल ही दुःख से मुक्त हो जाते हैं, परंतु मूर्ख मनुष्य को उस प्रकार मुक्त होने के लिये बहुत समय लगता है। कोई मनुष्य अपने अपराध के बिना कष्ट नहीं भोगता। हम चाहे पराधीन भी हों तथापि अपनी मुक्ति के सृजनहार हम ही हैं।

बहुत से लोग दुःख, रोग या मरने की परवाह नहीं करते परंतु नित्य की अल्प बाधाओं से ऊब जाते हैं। हमारे संकटों में से बहुतेरे क्षुद्र होते हैं और उनका निस्तार सहज में हो सकता है। मूर्खता के कारण पैदा होनेवाले गृह-कलह और विचार-भिन्नता के नष्ट हो जाने से हमारे गृह-सुख का अंत न होगा।

हम यदि असंतुष्ट रहें और अपनी तबियत को न सम्हालें तो दोष हमारा ही है। दूसरे चाहे हम से ऐसा ही बर्ताव करें तथापि हमें अपने आनंद में बुराई नहीं पैदा करनी चाहिए।

जो कष्ट हम सहते हैं उनका आदि कारण हमारी ही मूर्खता या विचारशून्यता होती है। एक छिन के सुख को देख कर उसके पीछे हम अपना सारा जन्म दुःख से काटते हैं। बहुधा आपत्तियाँ अपने पाँव नहीं आतीं, हम ही उनकी तरफ़ जाते हैं। इस प्रकार हमारे सैकड़ों भाई अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर देते हैं।

बोता अपनी जान में, मानुष आशा-बीज।
देख निराशा की फ़सल, रह जाता कर मीँज॥
—गेते।

आगामी आपत्ति की कल्पना पहले ही से करके हम अपने चित्त को दुःखी कर लेते हैं। केवल इतना ही नहीं किंतु जो आपत्ति अंत में हम तक आती भी नहीं उसके भय से बहुधा हम व्यर्थ अपने मन को विचलित कर लेते हैं। उन आपत्तियों के आने की मार्ग-प्रतीक्षा अपनी शक्ति भर शांतिपूर्वक करना ही बुद्धिमानी का काम है। हम सुनते हैं कि अमुक गृहस्थ परिश्रम से श्रांत हो बीमार है, परंतु अगर मालूम किया जाय तो यही बात सिद्ध होगी कि ऐसे मनुष्यों में सैकड़ा पीछे ८० मनुष्य केवल चिंता और हृद्रोग से बीमार होते हैं। शेक्सपीयर ने कहा है कि—

है उपाय चित-व्याधि का, प्यारे! अपने हाथ।
फिर क्यों माँगहु जोरि निज, देवन को तुम हाथ॥

यह बात वयस्क मनुष्य के लिये ठीक है परंतु लड़कों का हाल कुछ और है। लोग कहते हैं बालक सुखी होते हैं परंतु यह ठीक नहीं है। बालकों को थोड़े थोड़े कारण से क्रोध आ जाता है और वे छोटी छोटी बातों पर रंज करने लगते हैं। लड़कों को बड़ों पर अवलंब करके रहना पड़ता है इसलिये उनके साथ बड़ों को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। रेरे नामक एक विख्यात् अश्वारोही ने लिखा है कि—"मैं अपने

घोड़े को एक शब्द भी गुस्से में कहूँ तो उसकी नाड़ी के मामूल से १० आघात अधिक होते हैं।" जब जानवरों की यह हालत होती है तो बालकों की क्या दशा होती होगी, इस बात का विचार करना चाहिए।

बच्चे अगर अपने आप रुष्ट होकर कष्ट पावें तो क्षम्य हो सकता है परंतु प्रौढ़ मनुष्य यदि वैसा करें तो वे क्षमा के योग्य नहीं हो सकते। धैर्य का आधार करके अपने संकटों को न मोनने से वे सहज में टल सकते हैं। तूफ़ान का डर जितना कमरे में बैठ कर मालूम होता है उतना खुले मैदान में नहीं।

भावी संकट की व्यर्थ कल्पना करके हम उसे टालने के लिये सचमुच यत्न करते हैं। जिस मनुष्य को थोड़े से संतोष नहीं होता उसको बहुत अधिक मिलने से भी शांति न होगी। जिससे कभी हमारा संतोष न होगा उसकी प्राप्ति के लिये क्या हम परिश्रम नहीं करते हैं? जिस वस्तु का हम उपयोग नहीं कर सकते उसका हम पर भार मात्र होता है। फिर भी ऐसी अनुपयुक्त बातों का हम बार बार पीछा करते हैं। एक सरदार ने यात्रा के लिये जाते समय बहुत सी चीजें अपने साथ बाँधीं और बहुत सा असबाब साथ लिया। उसमें चूहे पकड़ने का एक पिंजरा भी था और एक छत्ता शहद की मक्खियों का भी था, वह इस लिये कि शायद वे मिल जायँ तो छत्ते का उपयोग होगा। दूसरे एक हर्न नामक प्रवासी की

कथा सुनने में आई है कि एक बार जब वह यात्रा कर रहा था तो उसे जंगली लोगों ने लूट लिया। परंतु उसने कुछ खेद न मान कर कहा कि—"अच्छा हुआ, मेरा बोझा हलका हो गया, अब मैं अधिक सुख से यात्रा कर सकूँगा।" इस कहानी के पहले सरदार के समान बहुधा लोग अपनी जीवन-यात्रा में अपने को निरुपयोगी बोझे से लाद लेते हैं, और इनं के समान संतोष नहीं करते।

तुम पर आपत्ति आने के कारण जिस समय तुम्हारे मन को पीड़ा हो उस समय यह विचार करो कि आया हुआ संकट अपना दुर्भाग्य नहीं है और उसे धीरज के साथ सह लेने के बराबर दूसरा उपाय ही नहीं है। जिस बात से हमें क्रोध आता है। उससे भी अधिक अपने क्रोध से हमें तकलीफ़ होती है। कुटुंब की कलह और बुराई देख कर बहुत लोग अपने मनों को व्यथित और पागल बना लेते हैं। हमें यदि कोई दोष दे तो सौ में से अस्सी अवसरों पर उसका बुरा नहीं मानना चाहिए। यदि हम सचमुच उस दोष के पात्र हैं तो वह दोष हमारे लिये एक सूचना है, और यही समझ कर हमे उसका आदर करना चाहिए; और यदि हम उस दोष के भागी न हों तो अपने चित्त को व्यर्थ क्यों दुःखी करें?

क्रोध एव महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी।
संतोषो नंदनवनं शांतिरेव हि कामधुक्॥

अर्थात् क्रोध बड़ा शत्रु है, आशा वैतरणी नदी है, संतोष नंदन वन है और शांति कामधेनु है।

इसके अतिरिक्त यदि हम आपत्ति के फेर में आ जाँय तो उसके लिए दुःख करने से दुखी ही होंगे। इपिक्टेटस का कथन है कि—"मेरा मरना निश्चित है फिर मुझे दुःख करते हुए क्यों मरना चाहिए? यदि मेरे पैरों में शृंखला ही पड़नेवाली हो तो फिर मुझे क्रंदन क्यों करना चाहिए? मुझे यदि देशनिकाला ही भोगना बदा है तो फिर उसे आनंद से ही सहने में मुझे कौन रोक सकता है।" कोई यदि मुझसे कहे कि मैं तुझे कारागृह में बंद करूँगा तो उसका कहना ही मेरी समझ में नहीं आता, क्योंकि मेरा शरीर बंधन में बँध सकता है परंतु यदि परमेश्वर भी आ जाय तो भी वह मेरे मन को बंधन में डाल कर उसे जर्जर करने में समर्थ नहीं है।

यदि हमें सुख में रहना नहीं आता तो उसका दोष हमारे ही सिर है। सुक्रात जुल्म करनेवाले राजाओं के अधिकार में रहता था और इपिक्टेटस तो विचारा गुलाम था। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने अपने उदाहरण से लोगों को सुख का मार्ग दिखा कर क्या उन्हें अपना ऋणी नहीं बनाया है?

२—कर्त्तव्य सुख।

कर्त्तव्य हमारा मालिक है। पर यह मानना बड़ी भूल है कि वह हम से ज़बरदस्ती काम लेता है और बड़ा निर्दय है। हमें दूसरों को भी इस प्रकार कर्त्तव्य के बड़ेपन के विषय में मत न देना चाहिए। उलटे यह समझना चाहिए कि कर्त्तव्य-देवी एक मोहवती, कृपामयी और जगत् के क्लेश और चिंता इत्यादि से हमारी रक्षा करनेवाली माता के समान है।

हम यह भले ही मान लें कि मनुष्य-समाज का त्याग करके एकांत वास करने से हम कृतकृत्य हो गए परंतु इसमें स्वार्थ-परायणता का दोष हम पर आता है। दूसरों के लिये उपयोगी होना हमारा कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य का पालन करने से हमारा जन्म मनोरंजक होगा, क्लेशमय नहीं।

परंतु यह जीवन कष्टमय न होकर तेजस्वी, उत्साहमय और रमणीय क्योंकर हो सकता है, यह एक बड़ा प्रश्न है।

आज तक बहुत से महात्मा लोग यह समझ कर कि इस बात में सुख है, इस विषय में आनंद है आदि अनेक विषयों की छान बीन में लगे रहे परंतु उन्हें सुख का पता तक न लगा। इससे उनका नाम बदनाम हुआ और कुछ लाभ नहीं हुआ। ऐंटनी ने माना कि प्रेम में सुख है, ब्रूटस ने संपत्ति और वैभव में सुख होना समझा और सीज़र ने राज्य-विस्तार में। परंतु

अंत में क्या हुआ ? पहले का नाम सर्वदा के लिये कलंकित हुआ, दूसरे का जन्म मिट्टी में मिल गया और तीसरे के साथ सब लोग कृतघ्न हो गए और अंत में तीनों के तीनों नष्ट हो गए। यदि यह माना जाय कि अपने पास बहुत संपत्ति होने से हम सुखी होंगे तो उसके पीछे भय, विपत्ति और मोह लगे हुए हैं। संपत्ति का सद्विचार के साथ उपयोग करने से सुख अवश्य होता है परंतु उस संपत्ति की रक्षा भी करने में कष्ट बहुत है।

फिर सुख का संपादन किस प्रकार हो सकता है ? मार्कस आरीलियस का कथन है कि—"केवल एक ज्ञान के द्वारा जीवनयात्रा पार हो सकती है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अंतःकरण को व्यर्थ क्लेशमय न कर ले। वह सुख और दुःख दोनों को तुच्छ समझता जाय। व्यर्थ के व्यवसाय का कार्य्य न करे। जो कुछ करे कपट भाव या छल अथवा दंभ को त्याग कर करे। दूसरा कोई अमुक काम करेगा और अमुक नहीं करेगा, इस प्रकार केवल अनुमान करके उनके भरोसे पर नहीं रहना चाहिए। जो कुछ हो चुका और अपने भाग में आया उस सब को परमेश्वर ही की कृपा का फल समझ कर उसका आदर करना चाहिए। मृत्यु भी कोई बड़ी आपत्ति नहीं है। यह समझ कर संतोष करना चाहिए कि जिन पंच तत्त्वों से सब प्राणी बनाए गए हैं वे पृथक् होकर अपने अपने

तत्त्वों में जा मिलते हैं, और अंत में उत्साह धारण करके उस की प्रतीक्षा करनी चाहिए।"

इस अंतिम विचार का प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध नहीं है, क्योंकि मृत्यु के भय का मनुष्य के मन पर जितना हम समझते हैं उतना परिणाम नहीं होता। बेकन का कथन है कि—"मनुष्य में ऐसी एक भी वृत्ति नहीं है जो मृत्यु से भय मानती हो। बदला लेने की बुद्धि हुई तो फिर मृत्यु की कौन परवाह करता है। प्रेम तो मृत्यु को तिनके के समान मानता है। अकीर्ति से मरना अच्छा समझा जाता है और दुःख की परमावधि होते ही वह मृत्यु को पास बुलाता है।"

प्राण जावें देह तज के आज ही या भले ही कल।
न मुझ को दोष दो कोई कि था डरपोक मरने का॥
बिताया है सदा मैंने सुजीवन नाम पाने में।
वही मरने से डरते हैं जो पापी या अधर्मी हैं॥

ओमर खयाम।

हमने यदि अपना शरीर परोपकार में लगाया और "संसार में शांति और मनुष्य में प्रेमभाव" पैदा होने के लिये अंतकरण से श्रम किया तो मृत्यु के भय से क्या काम? जिस जीवन-संताप के पचड़े में हमारा सब समय व्यतीत होकर हमारा जीवन कष्टमय हो जाता है उससे मुक्त होने के लिये परोपकार से जितनी सहायता हमें मिलती है उतनी और किसी व्यवहार से नहीं मिलती। हम यथासाध्य पूरा उद्योग करें और

परिणाम की राह देखें और जो कुछ अंत में फल हो उसी में संतोष करें तो हमारा दुःख नष्ट हो जायगा क्योंकि विश्व-संचालक परमात्मा जो कुछ करता या कराता है उसमें उसका हेतु सदा उत्तम ही होता है।

यद्यपि हमारे इच्छानुसार हमसे सब कुछ करते न बने तथापि जो कुछ हमारे हाथ से बन पड़ेगा उसका हम पर अच्छा ही परिणाम होगा। इसमें शक नहीं कि एक ही व्यक्ति सब कुछ न कर सकेगा, क्योंकि इपिक्टेटस ने कहा है कि "तुम में भीम का सा बल नहीं, दूसरों की दुष्ट बुद्धि को निर्मूल करना तुम्हें नहीं आता परंतु स्वयं तुम्हारे शरीर में जो अव-गुण हैं उन्हें तुम निकाल सकते हो। तुम अपने मन में दुःख, भय, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष और अमर्यादा आदि अवगुणों को जगह न दो, तुम ईश्वर पर विश्वास करो, उसी पर अपना भार डालो उसी के आश्रित बनो, उसी से प्रेम करो तब तुम अपने इन अवगुणों को दूर कर सकोगे।"

कुछ लोग यह समझते हैं कि जो कार्य हमें इष्ट है उसे करने के लिये हम स्वाधीन हों तो इसके समान दूसरा सुख नहीं, परंतु रस्किन ने लिखा है कि—"पानी की मछली मनुष्य से भी स्वतंत्र है और मक्खी को तो स्वाधीनता की मूर्ति ही सम-झना चाहिए।" परंतु क्या मछली या मक्खी को सुखी कह सकते हैं ?

बनने ठनने में या ऐश आराम में हमारा समय व्यतीत हो जायगा तो उससे हमें सच्चा सुख और स्वाधीनता प्राप्त न होगी। जब इस विलासप्रियता में हम एक बार फँसे तो फिर उसके बराबर पराधीनता दूसरी नहीं है। जैसे शराब पीने की आदत है उसी तरह अन्य व्यसनों का हाल है। मद्य को मधु कहा है, वह प्रथम पीने में अच्छा मालूम होता है परंतु अंत में विष के समान कडुआ लगता है। एक बार पीने से बार बार पीने की इच्छा प्रबल होती है। यही बात अन्य विषयों में भी होती है। बार बार उपयोग के कारण उसकी चाह बढ़ती है परंतु उससे सुख नहीं होता। फिर इस मोह को तोड़ कर अलग करना कठिन हो जाता है और पहले ही उसके अधीन हो जाने से यद्यपि थोड़े समय के लिये सुख प्रतीत होता है तथापि शीघ्र ही नष्ट होकर वही मोह प्रिय नहीं रह जाता।

आत्मसंयम पहले कठिन मालूम होता है किंतु वह क्रमशः सुगम होकर पीछे आनंददायी होता है। अपना मन अपने अधीन रखकर उसकी चंचलता को रोकने से जो आनंद होगा वह अकथनीय है। उसके बराबर दूसरी विजय नहीं है। किराए के मरियल टट्टू को मार मार कर रोते खपते ले जाने की अपेक्षा किसी तेज़ घोड़े को लगाम के बल अपने स्वाधीन रख कर चौकड़ी भरते हुए जाने में यद्यपि शक्ति और कुशलता की आवश्यकता है तथापि उससे मन को स्फूर्ति और आनंद होता है। उसी प्रकार गुलाम के समान पराधीन और

नादान मन को बार बार प्रोत्साहित करने की अपेक्षा उसी को स्वाधीन रख कर तेजोमय रखने से अधिक आनंद होगा।

सर टी ब्राउन का कथन है कि—"जिसने अपने आपको अपना स्वामी बना लिया वह फिर इस जगत के राजवैभव की इच्छा नहीं करता।" इसका कारण यह है कि जिनकी मान मर्यादा बड़ी है वे बड़े नहीं हैं। जिनसे अपना मन अपने अधीर रखने नहीं बनता उन्हें राज-पद भी मिला हो तो भी वे राजा नहीं हैं। यदि किसी महात्मा के शरीर में भस्म रमी हो और वह दुर्बल और अकेला भ्रमण करता हुआ भीख भी माँगता हो तो भी उसका लोग आदर करते हैं, क्योंकि वह संसार का उपकार करने के लिये जन्म लेता है। इस विषय में पिर्हस और सिनिअस का संवाद यहाँ दिया जाता है—

सिनिअस—"तुम इटली को अपने क़ब्ज़े में ला कर फिर क्या करोगे?"

पिर्हस—"मैं सिसिली द्वीप जीतूँगा।"

सिनिअस—"उसके पश्चात्?"

पिर्हस—"आफ्रिका।"

सिनिअस—"मान लो कि तुमने संपूर्ण पृथ्वी अपने अधीन कर ली तो फिर क्या करोगे?"

पिर्हस—"फिर विश्राम लेकर अपना समय सुख से व्यतीत करूँगा।"

सिनिअस—"तो फिर वही बात अभी क्यों नहीं करते?"

सिनिअस के कथन के अनुसार मान लिया जाय कि हमे संपूर्ण पृथ्वी का राज्य मिल गया तो भी इस विश्वविस्तार के सामने उसकी क्या गिनती हो सकती है ? इस त्रैलोक्य की विशालता और अनंत विस्तार को देखकर मनुष्य समझता है कि मैं कितना क्षुद्र प्राणी हूँ, क्योंकि वह समझने लगता है कि कितना ही बड़ा राज्य मुझे क्यों न मिल जाय पर तो भी वह इस अपार जगत् में पृथ्वी का एक छोटा सा टुकड़ा होगा और मैं उसका सुलतान, अमीर या राजा होऊँगा! कितना क्षुद्र उसमें भी राज-पद को पहुँचने का मार्ग बड़ा कठिन है। राजा लोग ग्रहों के समान हैं, उन्हें लोग पूज्य मानते हैं परंतु उनका भ्रमण नहीं चुकता।

प्लेटो ने अपने "प्रजातंत्रराज्य" नामक ग्रंथ में एक दंत-कथा इस तरह की लिखी है कि "मरने के अनंतर प्रत्येक आत्मा को आगामी जन्म में मनमानी स्थिति स्वीकृत करने की स्वाधीनता थी। उसके अनुसार जब यूलिसिस की बारी आई तब उसने सुखी गृहस्थ की स्थिति की बड़ी देर तक खोज की परंतु वह किसी कोने में एक तरफ पड़ी थी इस कारण उसका उसे पता नहीं चला तथा बड़ी देर तक ढूँढने पर जब वह उसे मिली तब उसे बड़ा आनंद हुआ, क्योंकि जगत् के अनुभव से उसमें उच्च आकांक्षा निर्मूल हो गई थी।"

स्वयं तुम या हम एक बहुत बड़ा राज्य हैं। "जो अपनी वाणी को अपने अधीन रखता है वह किसी नगर को जीतने-

वाले बीर से भी अधिक शूर है।" आत्म-संयम रूपी सच्चा और विशाल राज्य बिना परिश्रम के कचित् ही मिलाता है! उसे जीतने के लिये हर एक मनुष्य को चाहिए कि वह पहले अपने आप पर विजय प्राप्त करे, और वह विजय उसे तब ही प्राप्त हो सकती है जब कि वह विवेक के अनुसार कार्य्य करेगा, क्योंकि जो श्रम करता है वह अवश्य यश का भागी होता है। "जो लोग व्यवसायी हैं उन्हें जितना सज्जन होना चाहिए उतने वे नहीं होते और उनके अंतःकरण उदारत-युक्त और बड़े नहीं होते।" अरस्तू का यह कथन आश्चर्य करने योग्य है। यह विधान कदाचित् प्राचीन यूनानी लोगों के लिये यथार्थ होगा परंतु उसी अरस्तू ने एक जगह ऊपर के कथन के विरुद्ध भी कहा है कि—"जिस व्यवसाय के करने में हमें फ़ुर्सत का समय मिले वही करना चाहिए और जिन साधनों से सदाचार में सहायता होती हो उन्हें प्राप्त करना चाहिए।"

इँगलैंड के आम लोगों का व्यवसाय खेती, व्यापार और कारख़ाने हैं। इन्हीं उद्यमों से लोग जीविका उपार्जन करते हैं। परंतु इस कारण हम यह नहीं कह सकते कि वहाँ के लोग शीलवान् और उदारचेता नहीं हैं। हमारे जीवन का उदार अथवा क्षुद्र होना हमारे आचरणों पर निर्भर है। किसी निर्धन मनुष्य का आयुष्य-क्रम देख कर हम आश्चर्यान्वित हो जाते हैं पर किसी बलवान् बादशाह का आचरण

अथवा किसी बुद्धिमान मनुष्य के अत्याचार देख हम उसीसे घृणा करते हैं। उदार और बड़े दिल से व्यवसाय करने से उसमें लाभ होता है। इतना ही नहीं किंतु उससे हमारे चित्त और व्यवहार भी उदार होते हैं। रस्किन ने जो बात कला कुशलता के संबंध में कही है वही बात कुछ परिवर्तन करके हमारे व्यवहार के विषय में भी ठीक हो सकती है। रस्किन के कहने का भावार्थ यह है कि—"व्यवसाय नीच हो या उच्च परंतु उसे यदि हम प्रेम से करें तो उससे हमें प्रसन्नता होगी। उसके करने में यदि हमारा हेतु अच्छा होगा तो उससे हमारा चित्त धीरज और शांतियुक्त होगा और उद्यम करने में हमारा उत्साह बढ़ेगा। ऐसा व्यवसाय अवश्य करना चाहिए। यद्यपि सब धंधे अच्छे हैं तथापि उनमें भी न्यूनाधिक भाव है। सब ही व्यवसायों में परोपकार नहीं हो सकता। इससे जिस व्यवसाय में थोड़ा बहुत परोपकार बन आवे वही करना चाहिए। यदि ऐसा व्यापार न मिले तो जो अपनी शक्ति के अनुसार हो वही करके सुख से रहना चाहिए।"

पुराने वीर पुरुषों के चरित सुन कर हम चकित होते हैं, परंतु इस जीवन-यात्रा में उसी प्रकार की वीरता दिखलाए बिना प्रत्येक मनुष्य का काम न चलेगा। सत्शील और दुराचरण दोनों तुम्हारे सामने हैं। तुम उनमें से इच्छानुसार किसी का आदर करने के लिये स्वतंत्र हो। दुराचार तज कर सदाचार का आदर करना कुछ कम वीरता का काम नहीं है।

किसी किसी का ऐसा कहना है कि इस युग में संसार-यात्रा बड़ी कठिन और कष्टमय हो गई है। मनुष्य को पहले की तरह सुख और संतोष नहीं मिलता और जीवनार्थ उद्योग अत्यंत कठिन हो गया है। परंतु यह बात हम भूल जाते हैं कि इस युग में हम कितने भयरहित हो गए हैं और हमारी रक्षा कितनी उत्तमता से हो रही है। इस में संदेह नहीं कि हमें उस समय अधिक कष्ट उठाना पड़ता होगा परंतु प्राणों के अंत तक उनके न करने से हमारी हानि न होगी। हमें उसके लिये फुर्सत भी न मिलती होगी। इसका एक कारण यह भी है कि जिस समय में हमें जन्म मिला है उसके सुखमय होने के कारण उद्यम करने की हम में हवस पैदा हो रही है। अपना समय व्यवसाय में बीतने से हम आनंदित होते हैं और साधारणतः देखा जाय तो इस युग में गुण की जैसी चाह और उद्यम के फल मिलने की जैसी संभावना है वैसी अन्य युगों में न होगी। क्योंकि—

"गुण ना हिरानो गुणगाहक हिरानो है" वाली कहावत प्राचीन है, इस समय की नहीं।

जिस काम को उठाया है उसमें यश लाभ होने में यदि अधिक समय लग जाय तो ऊब नहीं जाना चाहिए। यदि फल शीघ्रतर मिल गया तो गर्व से फूल जाना भी उचित नहीं। जिस समय सब चूक हमारी ही होती है उस समय हम अपने

दुर्दैव को दोष देते हैं। सेनेका ने एक जगह लिखा है कि "मेरी स्त्री के पास एक दासी थी। उसकी आँखें प्रायः अंधी हो गई थीं, तथापि वह अपने को अंधी नहीं समझती थी। वह कहती थी कि घर में अँधेरा है।" यह बात हँसी आने लायक़ है तथापि इसमें संदेह नहीं कि हमारा व्यवहार बिलकुल उसी दासी का सा है। किसी महत्वाकांक्षी पुरुष से पूछिए तो वह यही कहेगा कि "मैं महत्वाकांक्षा करनेवाला नहीं हूँ परंतु क्या किया जाय इस रोम नगर में टिकना मुशकिल है। सचमुच सज धज से रहने की मेरी इच्छा नहीं है किंतु क्या किया जाय इसी रूप में रहना आवश्यक होता है।" तात्पर्य यह कि हर आदमी अपना दोष दूसरों के माथे मढ़ने का यत्न करता है। न्यूमन ने एक गीत में कहा है कि—मैंने जो एक पग आगे रक्खा वही मेरे लिये अलम् है। मैं दूर किस लिये जाऊँ? हे विश्वात्मन्! अब मुझे यहीं चरणों में आश्रय दीजिए।"

परंतु अपने जीवन में हम चाहे जिस मार्ग से जाँय हमें इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि हम किसी एक मार्गदर्शक के अनुगामी हैं। निठल्लेपन से व्यर्थ भटकते फिरना उचित नहीं। सच पूछा जाय तो वह विश्वासयोग्य मार्ग-दर्शक हमारे पास ही है।

"विवेक और सद्विचार ही ईश्वर-निर्मित गुरु हैं। जो मनुष्य उनके मत के अनुसार चलता है उसे आपत्ति नहीं

सहनी पड़ती। उनके अभाव से बड़ा बुद्धिमान मनुष्य भी दुःख उठावेगा; यह बात समझदार लोग मानते हैं, हठी नहीं मानते।

—मुक्तेश्वर।

धर्म एक उत्तम मार्गदर्शक अवश्य है परंतु उसमें अनेक कारणों से संदेह खड़े होने की संभवना होती है। विश्वास किस बात पर किया जाय, यदि यही शंका हो तो भी हमें अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में कुछ बाधा नहीं होती।

सद् वाक्य लसैं मुख-पंकज में,
बढ़ि वाहू तें होहिं सुकारज सुंदर।
शब्दन को अनुगामि अहै,
बहुअर्थ सुचारु अलंकृत अक्षर।
सुखदा मधुरा वचनावलि ज्यों
तिमि साँच सुशील चरित्र मनोहर।
तौ जग में सब पाय लियो,
धन संपद कीरति और सहोदर॥

—न्यूमन।

क्लिआंथीस ने परमेश्वर से कहा है कि—

"हे भगवान्! आपके दर्शित पथ ही पर मैं चला जा रहा हूँ, मुझे आगे का मार्ग आप बताइए। यदि मैं आगे नहीं जाऊँ तो भी मेरे लिये जाना तो अनिवार्य ही है फिर मैं मूढ़ की भाँति संसार में क्यों रहूँ। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं

आपका अनुचर रहूँगा जिससे मुझे ऐसा सुख हुआ है कि उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता।"

हमारा कर्त्तव्य क्या है, इसमें कभी संदेह करने की आवश्यकता नहीं। दूसरे दिन जब हम यह बात सोचें कि कल हमें यह कार्य करना उचित था तो समझ लेना चाहिए कि वही कार्य हमारे करने योग्य है।

एक बार ही एक अच्छा काम कर देने से या अच्छा निश्चय कर लेने से काम नहीं चलता। अपने इच्छानुसार फल मिलने के लिये नित्य नई तैयारी करना आवश्यक है। मनोविकारों को अपने वश में लाने के लिये अपनी व्यसनाधीनता को कम करना पड़ता है और अपने निज के आचरणों का निरीक्षण करना पड़ता है।

क्षुद्र जान पड़नेवाली वस्तुओं के महत्व के विषय में प्राचीन समय से आज तक बड़े बड़े बुद्धिमान पुरुषों ने वर्णन किया है। एक कहानी है कि—"एक मनुष्य ने अपने लड़के को एक फल दे कर उसे तोड़ने के लिये कहा और पूछा कि 'अंदर क्या है ?' लड़के ने उत्तर दिया—'एक छोटा सा बीज है।' बाप ने फिर कहा—'बीज को भी तोड़ो।' तब उसने बीज को तोड़ा। बाप ने पूछा—'इसके भीतर क्या है ?' लड़का बोला—'इसके भीतर कुछ नहीं है।' पिता ने कहा—'नहीं, जहाँ तुझे कुछ नहीं दीखता है वहाँ मुझे बड़ा विशाल वृक्ष

दिखाई देता है।" सचमुच इस संसार में क्षुद्र अथवा व्यर्थ वस्तु कोई भी नहीं है।

सर्वयोनिषु कौंतेय ! मूर्तयः संभवंति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

—भगवद्गीता।

हे अर्जुन ! अंडज, जारज, स्वेदज और उद्भिज इन चार योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनकी आदि और महद्योनि मैं ब्रह्म हूँ और मैं ही उनके बीज का उत्पन्नकर्ता पिता हूँ।

यह रची जिसकी सब सृष्टि है,
लघु महान् विभेद उसे नहीं।
कुछ जहाँ करतूत लखी गई,
अखिल विश्व वही प्रतिरूप है॥

—इमर्सन।

इसलिये क्षुद्र जान पड़नेवाली वस्तुओं की तरफ़ अवश्य ध्यान देना चाहिए। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हें क्रोध न आवे तो उस मनोविचार को उत्तेजित न होने दो। ऐसा अवकाश ही उसे न दो जिससे वह बढ़े। पहले शांत-चित्त रह कर यह देखो कि कितने दिनों तक तुम्हें क्रोध नहीं आता। पहले यदि तुम्हें नित्य प्रति गुस्सा सताता था तो अब वह एक दिन बाद आने लगेगा और फिर दो या चार दिन बाद आने लगेगा। अगर एक महीने तक क्रोध न

आया तो समझ लो कि काम हो गया, क्योंकि मनुष्य को चाहे किसी प्रकार की आदत हो वह क्रम क्रम से छूटती जाती है और अंत में विलकुल नहीं रहती।

"एक बार एक मनुष्य ने स्वर्ग-भवन में प्रवेश किया। वहाँ केवल देवता ही विराजते थे, और कोई न था। देवों ने उसे आशीर्वाद देकर बहुत आदर से आसन पर बैठने के लिये कहा। इतने में उस ऐश्वर्य के तेज से उसकी आँखें बंद हो गईं और ज्योंही उसे अंधकार दिखाई दिया त्योंही वह मायावश देखता क्या है कि वह मनुष्यों की बड़ी भीड़ में खड़ा है और उसी में बहा चला जाता है, किसी प्रकार अपने को सम्हाल नहीं सकता! वह घबरा गया और उसकी समझ में न आया कि अब क्या किया जाय? इतने में उसकी आँखें खुलीं और उसने देखा कि वही देव-सभा है और वह आप उसके सामने खड़ा है।" इसलिये इमरसन ने कहा है कि "जो लोग सज्जन हैं वे यदि ऐसी भीड़ में कदाचित् पहुँच भी जाँय तो भी अपना चित्त इस प्रकार शांत, स्थिर और आनंदित रखते हैं कि मानों वे एकांत में हैं।

अपने चित्त को शांत रखना अपने ही ऊपर निर्भर है। कई लोग बगीचों में, समुद्र के किनारे या पहाड़ों पर विश्राम-गृह बनवाते हैं और उन्हें ऐसे स्थान बड़े पसंद आते हैं परंतु ऐसे स्थानों में विश्राम पाने की इच्छा करना भूल है, क्योंकि शांत रहना तुम्हारे मन पर अवलंबित है। यदि चाहो तो

अपने मन ही के विषय में तुम रम सकते हो। प्रशांत मन में जो विश्राम मिलता है, और सांसारिक बाधाओं की जिस प्रकार कमी पड़ जाती है वैसी और कहीं नहीं होती। और उसमें भी यदि हमारे मन में सुविचार और विवेक हो तो उस शांति का अंत नहीं रहता। महाभारत में कहा है—

"दांतस्य किमरण्येन तथाऽदांतस्य भारत।
यत्रैव निवसेद्दांतस्तदारण्यं स चाश्रमः ॥"

अर्थ—जिसने आत्मसंयम किया है और जिसने आत्मसंयम नहीं किया है, उन दोनों को ही अरण्य से क्या लाभ? क्योंकि आत्मसंयम करनेवाला मनुष्य जहाँ रहेगा वहीं उसका आश्रम अथवा अरण्य हो सकता है।

महात्मा तुकाराम ने कहा है कि "जो मनुष्य एकांत में बैठ कर चित्त शुद्ध करता है उसके सुख का पार नहीं है" उसी प्रकार विथिअस ने लिखा है कि—

"जो सद्गुण-संपन्न है वही बुद्धिमान् है और जो बुद्धिमान् है वही सज्जन है और जो सज्जन है वही सुखी है।"

पवित्र आचरण और परोपकार बुद्धि यदि न हो तो मनुष्य को सुख का मिलना असंभव है। अपने आप में रमने के लिये मन को निर्मल और शांत विचारों से परिपूरित कर देना चाहिए, गत दुःखों के लिये शोक न करते हुए संतोष करना चाहिए, आगे के लिये आशा करनी चाहिए और जिस आचरण से हमारा मन हमें पश्चात्ताप दे उसे दूर करना चाहिए।

दुर्बुद्धि का विरोध करने से, वासनाओं को अपने वश में रखने से और अपनी सुजनता को उत्तेजना देने से हम अपना जीवन शांत और पवित्र आचरण से व्यतीत कर सकेंगे। इस बात का निरीक्षण करना चाहिए कि हमारे मन को किस विषय या चिंता ने घेर लिया है। अपनी कल्पना के अनुरूप मनोराग बदलते हैं इस लिये दुष्ट कृत्य, शृंगारमय कथानक अथवा दुराचारों की कहानियाँ सुन कर मन को मलिन होने से बचना चाहिए। रस्किन ने लिखा है कि–" जिस प्रकार वर्षा काल का नदियों का मैला पानी शरद के आरंभ में निर्मल हो जाता है उसी प्रकार हमारा मन योग्य समय में शांत होता है। वर्षा के पानी को छान कर निर्मल नहीं बना सकते, न उसे दबा कर शांत कर सकते हैं; उसी तरह यदि मन को निर्मल और शांत रखने की इच्छा हो तो उसे स्थिर रहने दो। पानी में पत्थर फैंकने से वह चंचल और मैला हो जाता है; उसी तरह बार बार डाँट डपट करने से मन व्यग्र हो जाता है।"

सुकरात का कथन है कि–"अन्याय का सच्चा दंड चाबुक की मार अथवा मृत्यु नहीं है। एक अन्याय का काम करने से उत्तोरोत्तर अन्याय ही का आचरण करने की जो अनिवार्य आवश्यकता मालूम होती है उसे नष्ट करना ही सच्चा दंड है।" सुकरात के समान ज्ञानवान् और सदाचारी पुरुष संसार में थोड़े निकलेंगे। इस अलौकिक पुरुष के विषय में उसके क्सेनोफन नामक शिष्य ने लिखा है कि–"वह इतना धर्मभीरु

था कि ईश्वर को अप्रसन्न करनेवाली बात उसने कभी नहीं की। वह इतना न्यायशील था कि उसने कभी किसी का जी नहीं दुखाया। जिसे जिसे उसके पास रहने का अवसर मिला था उसकी उसने कठिन समय आने पर सहायता की। उसका आचरण नियमबद्ध था जिससे सदाचार और सद्गुणों को तज कर उसने कभी ऐश आराम की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। उसकी बुद्धि ऐसी कुशाग्र थी कि बुरे और अच्छे का निर्णय करने में उसने कभी धोखा नहीं खाया। उसे कभी किसी दूसरे की सलाह की ज़रूरत न पड़ती थी। न्याय और अन्याय के मामलों में औरों को अपने विचार समझाने में वह बड़ा चतुर था। दूसरों की परीक्षा करने में, उनकी चूक पकड़ने में उन्हें सन्मार्ग दिखाने में उसे बड़ी कुशलता प्राप्त थी। वह सचमुच बड़ा सुखी और आदर्श पुरुष था। यदि मेरा कहना किसी को मान्य न हो तो उसे चाहिए कि सुकरात के आचरण से दूसरों के बर्ताव की तुलना करके निश्चय कर ले।"

अंटोनियस नामक एक महा पुरुष के विषय में मार्कस आरीलियस ने ऐसे ही विचार दर्शित किए हैं—"विवेक की दृष्टि से अनुकूल श्रद्धा, धार्मिक भव, सबों के विषय में सम-दृष्टि, प्रसन्न मुख, मीठा स्वभाव, झूठी बड़ाई से घृणा और सब विषय समझ लेने की प्रीति आदि गुणों का ध्यान कीजिए। अंटो-नियस पहले सूक्ष्मतर निरीक्षण करके और विषय को अच्छी

तरह समझ लेने के पश्चात् किसी काम के करने की आज्ञा देता था। जो लोग अन्याय से उसका प्रतिवाद करते उन्हें वह शांतिपूर्वक समझाता था। वह जल्दी से कुछ नहीं करता था। वह चुग़लखोरों की बात नहीं सुनता था। वह रीति रिवाज और आचारों की छान बीन करता और दूसरों से उलहना अथवा ताना देकर कभी नहीं बोलता था। वह डरपोक, शक्की अथवा सुस्त नहीं था। भोजन, कपड़े, घर, नौकर इत्यादि के विषय में उसे थोड़े में संतोष हो जाता था। वह अत्यंत उद्यमशील और श्रमशील था। वह खानपान में नियमित और मित्रों के साथ समानचित्त और दृढ़ रहता था। जो लोग उसके मतों का खंडन करते, उनके बोलने में जो ग़लतियाँ होतीं उनसे वह बुरा नहीं मानता था। कोई अजीब चीज दिखाई जाती तो उसे हर्ष होता था। अंध विश्वास न करके वह धार्मिक रहता था। यदि तुम्हारी इच्छा हो कि इस पुरुष के समान तुम्हारा अंतःकरण भी शुद्ध हो तो इस महापुरुष के अनुगामी बनो।"

जब इस प्रकार चित्त शांत हो जाय तो समझना चाहिए कि हमें बड़ा पारितोषिक मिला। इपिक्टेटस ने प्रश्न किया कि क्या 'इनाम' नामक पदार्थ ही कहीं नहीं है ? जो कुछ योग्य और उचित है उसी को करने से जो कर्त्तव्य पालन होता है उससे अधिक इनाम और क्या है ? अखाड़े में कुश्ती जीतने से एक पगड़ी इनाम मिल गई तो कौन बड़ा गौरव हुआ ? संसार में अच्छा कहला कर सुखी होना सब से उत्तम पारितोषिक है।

३—ग्रंथ-महिमा।

रिचर्ड बेरी ने सन् १३४४ में 'विद्यानंद' विषय पर एक पुस्तक लिखी थी। उसमें ग्रंथों की महिमा के विषय में लिखा है कि "ग्रंथ हमारे गुरु हैं। वे हमें बिना मारे पीटे सब कुछ सिखाते हैं। वे कड़े शब्द नहीं बोलते। कभी क्रोध नहीं करते और न हमसे द्रव्य की चाह करते हैं। किसी समय उनके पास आइए वे सोते हुए नहीं मिलेंगे। किसी विषय पर विचार करते हुए तुम यदि उनसे प्रश्न करो तो वे उत्तर देने में कोई बात छिपा नहीं रखते। अगर उनका कहना तुम्हारी समझ में न आया हो तो वे नाराज़ नहीं होते। तुम्हारी ना समझी की वे हँसी नहीं करते। इससे ज्ञान से भरे ग्रंथों का संग्रह संसार की संपूर्ण संपत्ति से श्रेष्ठ है। इस ग्रंथ-भांडार की बराबरी किसी वस्तु से नहीं हो सकती। जिसको सत्य, सुख, ज्ञान और भक्ति का लाभ प्राप्त करने की सच्ची इच्छा हो उसको चाहिए कि वह ग्रंथावलोकन से प्रीति करे।"

ये विचार ६०० बरस पहले के हैं जब कि ग्रंथों का मिलना कठिन था। उस समय जब ग्रंथों की इतनी महिमा थी तो इस समय के लिये कहना ही क्या है?

जिन लोगों को ग्रंथ पढ़ने की रुचि होती है उनके चित्त में यह भावना निरंतर बनी रहती है कि "ग्रंथ हमारे सच्चे

मित्र हैं।" पेट्रार्क ने कहा है—"मेरे मित्रों का संग मुझे बड़ा सुखदाई होता है। मेरे मित्र सब समय में और सब देशों में रहनेवाले हैं। महल से लेकर झोपड़ी तक उन्होंने नाम कमाया है। उनके शास्त्रीय ज्ञान की बहुत कीर्ति हुई है। उनके पास मैं जब चाहे तब चला जाता हूँ, वे मेरे काम के लिये सदा तत्पर रहते हैं। अपने इच्छानुसार मैं उन्हें साथ रखता हूँ और दूर करता हूँ। वे कभी मुझे नहीं सताते। मैं जो प्रश्न करता हूँ उसका वे तुरंत उत्तर देते हैं। मेरे इन मित्रों में से कुछ ऐसे हैं जो मुझे गत युगों की कथा सुनाते हैं। कोई ऐसे हैं जो निसर्ग के रहस्य समझा देते हैं। किस प्रकार बर्ताव करना चाहिए और क्योंकर मरना चाहिए, इसका वे बोध कराते हैं। कुछ अपने रँगीले स्वभाव के कारण मेरी चिंता मिटा कर मेरे हृदय को उत्साह दिलाते हैं। कुछ ग्रंथ-मित्र मुझे धीरज देते हैं और काम क्रोध इत्यादि शत्रुओं को दबा कर अपने पैरों खड़ा होने का उपदेश करते हैं। तात्पर्य यह कि सब समय के और सब शास्त्रों के रहस्य वे खोल देते हैं। यदि मैं उनके दिए हुए ज्ञान के आधार पर कठिन समय में भी चलता हूँ तो मैं उसमें से पार आ लगता हूँ। इन सब उपकारों के बदले वे मेरे घर के कोने की एक कोठरी रहने के लिये माँगते हैं, क्योंकि मेरे इन मित्रों को जितना सुख एकांत-वास से होता है उतना जनसमूह की झंझट में नहीं होता।"

'जो मनुष्य ग्रंथों से प्रेम रखता है उसे श्रद्धेय मित्रों की,

हितकारी उपदेशक की, आनंदी साथियों और शांत करनेवाले सज्जनों की कभी कमी न रहेगी। अभ्यास से, पढ़ने से और चिंतन करने से सर्व काल में, सब अवस्थाओं में सब मनुष्यों को उनसे अपना मनोरंजन करना सहज है।"—वेरो।

सदे ने लिखा है कि—"संसार के भूतपूर्व ग्रंथकारों की संगति में मेरा समय बीतता है। जिधर दृष्टि डालता हूँ उधर मुझे बड़े बड़े प्रतिभावान् लोगों की कृति नज़र आती हैं। ये मेरे सब तरह के सहायक मित्र हैं और मुझे इनका नित्य समागम मिलता है।"

"थोड़ी देर के लिये मान लीजिए कि सारे संसार में आज तक जो अत्यंत बुद्धिमान् और महात्मा पुरुष हो गए उन्हें किसी मनोरम विषय पर अपने साथ वार्तालाप करने के लिये अगर हम अपने पास बुला सकते हैं तो यह हमारा कितना बड़ा गौरव और कितना बड़ा सुदैव है ! अपने पास अगर अच्छा पुस्तकालय हो तो महापुरुषों को बुलाने की योग्यता और भी अधिक प्राप्त होती है। ज़ेनोफन वा सीज़र के प्रवासों का वर्णन हम उन्हीं से पूछ सकते हैं । डेमासथनीस और सिसिरो को हम अपने सामने खड़ा कर उनकी वक्तृता सुन सकते हैं। सुकरात और अफलातून के संभाषण उनके ही मुँह से सुन सकते हैं और न्यूटन और यूक्लिड के सिद्धांत उन्हीं से हल करा सकते हैं। इसी प्रकार सुंदर भाषा में शृंगार

से सजे हुए बुद्धिमान् लोगों के चुने हुए विचार ग्रंथों के द्वारा हमें प्राप्त होते हैं।"—एकिन।

जरमी कोलियर का कथन है कि—"अपनी युवा अवस्था में ग्रंथ हमें सन्मार्ग दिखाते हैं, बुढ़ापे में मनोरंजन करते हैं, यदि हम उदास और अकेले हुए तो वे हमारा दिल बहला कर शांति देते हैं और कभी ऐसा विचार नहीं आने देते कि इस जीवन का अंत हो जाय तो अच्छा। हमने जो ग़लतियाँ की हों, जो शरीर-बाधाएँ हमें सताती हों उनका वे विस्मरण कराते हैं, चिंता को हर लेते हैं, क्रोधादि मनोवृत्तियों को शांत करते हैं और निराशा मिटाने में सहायक होते हैं। जब हमें जीवित मनुष्यों के संग से घृणा हो जाय तो हमें चाहिए कि हम पूर्वकालीन पुरुषों के ग्रंथों को अपने पास बुलावें। वे कभी हम से घृणा नहीं करते, गर्व से फूल कर ढोल नहीं बनते और न कभी कपट से किसी बात का छिपाव ही करते हैं।"

एक मामूली पुस्तक से भी कितना आनंद मिलता है, इस के विषय में सर जॉन हर्शल ने एक मनोहर कहानी कही है—

"एक गाँव में एक लोहार अपनी दुकान पर बैठ कर अपने पास आए हुए लोगों को एक उपन्यास सुनाया करता था। उस उपन्यास के बड़ा लंबा होने पर भी सुननेवाले उसे शांतिपूर्वक सुनते थे। अंत में जब उस उपन्यास के नायक नायिकाओं का सम्मेलन होकर विवाह हुआ तो उस समय श्रोताओं ने दौड़ कर गिरजाघर खोला और घंटा बजाया।"

"जिसे पढ़ने का शौक़ है उसके अंतःकरण पर जुदा जुदा विचारों पर अनेक ग्रंथों का अलग अलग परिणाम होता है। कभी वह भय खाता, कभी विचारमग्न हो जाता, कभी एकांत-वास करता, कभी किसी मनुष्य से मित्रता करता और उसे गले लगाता, कभी दूर तक प्रवास करता या कभी अपने ही घर किसी प्रवासी के साथ अपना समय बिताता, किसी के साथ व्यवसाय करता, किसी पर दया करता या किसी के साथ हँसता और कभी जहाज के टूट जाने से बहते हुए प्रवासी को जनहीन प्रदेश के किनारे लगा देख उसके साथ खिन्न और अनाथ होता है।"—ली हंट।

कार्लाइल का कहना है कि—"पुस्तकालय मानों एक विश्व-विद्यालय ही है" और अरब लोगों की ये कहावतें हैं कि—"बुद्धिमान् का एक दिन मूर्ख मनुष्य के सारे जीवन के बराबर है," तथा "जिस रोशनाई से शास्त्र लिखे रक्खे हैं वह स्वधर्म के लिये प्राण अर्पण करनेवालों के रक्त से भी अधिक मूल्यवान् है।"

कॉनफ्यूशियस ने अपने विषय में कहा है कि—"जब मैं एकाग्रचित्त होकर ज्ञानार्जन करता था तब खाना पीना तक भूल जाता था। जब मुझे ज्ञान प्राप्त हो चुका तब मुझे जो आनंद हुआ उसमें ज्ञानार्जन के सब दुःख मैं भूल गया और इसका तनिक भी मुझे ज्ञान न रहा कि बुढ़ापा मुझे घेर रहा है।"

अगर चीन और अरब के लोग ग्रंथों के महत्व को प्राचीन समय में इतना मानते थे तो सांप्रत में हम लोगों पर ग्रंथों ने जो उपकार किया है उसके लिये हमें उनका कितना ऋणी होना चाहिए, इसका वर्णन करने के लिये भाषा में पर्याप्त शब्द नहीं हैं। हम बीसवीं शताब्दी में रहते हैं; परंतु यह जो हमारा भाग्य है कि हम इस शताब्दी में जनमे हैं, इसकी क़ीमत हम ज़रा भी नहीं समझते। अगर किसी को यह सूझता कि "इससे सौ बरस पहले आकर और नहीं तो कम से कम पाठ-शालाओं में पढ़ाई जानेवाली पाठ्य पुस्तकें ही हम देखते कि वे कैसी और कितनी थीं, तो अच्छा होता" तो उसकी यह इच्छा स्वाभाविक ही कहनी चाहिए क्योंकि सौ बरस पहले ग्रंथ बहुत क़ीमती और बोझल होते थे। इतना ही नहीं किंतु स्कॉट, थैकरे, डिकंस, लिटन और ट्रोलोप इत्यादि ग्रंथकारों के आनंद-जनक उपन्यासों के जन्म का उस समय पता भी न था। आधुनिक समय में अभ्युदय पाए हुए डार्विन का नाम लिया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धिमत्ता के कारण विज्ञान कितना मनोहर हो गया है। इस समय का रूप कुछ निराला ही है। आज कल अनेक व्यवसायों में मनुष्य का मन गड़ गया है। बुद्धि को कुंठित करनेवाले कई प्रश्न पैदा हो गए हैं। मनुष्य को सब तरह के साधन और मौक़े उपलब्ध हैं और अपने पूर्वजों की अपेक्षा हमारी रक्षा भली भाँति होकर हमारा चित्त व्यावहारिक कार्यों में अधिक लग रहा है।

जिस कमरे में पुस्तकें नहीं हैं सिसरो ने उसे गतप्राण देह की उपमा दी है। पढ़ने की रुचि पैदा होने के लिये यह कुछ आवश्यक नहीं है कि विविध ज्ञान प्राप्त करने की हवस हो ही। ग्रंथावलोकन का अर्थ विद्याध्ययन नहीं है। फ्रेडरिक हरिसन का मत है कि जिस गद्यपद्य ग्रंथ के पढ़ने से अपनी मनोवत्तियों की उन्नति होती है वही ग्रंथ पढ़ना अलम् है, क्योंकि ऐसे ग्रंथों के पठन से नित्य के व्यवहार में हमें सहायता मिल सकती है।

मेकॉले को किसी बात की कमी नहीं थी। अधिकार, संपत्ति, बुद्धि, कीर्ति सब कुछ प्रस्तुत था। तथापि ग्रंथावलोकन से जो आनंद उसे मिलता था वह किसी और बात से नहीं। सर जॉर्ज ट्रिवेलियन ने मेकॉले की जीवनी में इस प्रकार लिखा है—"गत समय में जो बड़े बड़े बुद्धिमान् पुरुष हो गए हैं उनके विषय में मेकॉले की कितनी आदर-बुद्धि थी, इसका परिचय औरों की अपेक्षा स्वयं उन्हीं के शब्दों में किस प्रकार दिया है सो देखिए। 'हम लोगों पर ग्रंथों ने कितना बड़ा उपकार किया है, सत्य के अन्वेषण का मार्ग उन्होंने हमें कैसे बतलाया है, सुंदर और उत्तम कल्पनाओं ने हमारे मन को कैसे पूर्ण कर दिया है, बुरे दिनों में उन्होंने कैसे सहायता की, दुःख में शांति दी, बीमारी में सम्हाला, एकांत में साथ दिया। आप इन पुराने मित्रों का मुँह कभी बिगड़ा हुआ नहीं देखेंगे। उन्नति अथवा अवनति के समय में वे एक से रहते

हैं।' मेकॉले ने अपनी कलम के ज़ोर से बहुत धन और मान कमाया परंतु अन्य ग्रंथकर्ताओं के ग्रंथावलोकन से उसे जो आनंद होता था उसके सामने स्वरचित ग्रंथों के पढ़ने से मिलनेवाले आनंद को वह तुच्छ समझता था। स्टर्न फीलिंडग, हॅरेस, वालपोल, जॉनसन इत्यादि ग्रंथ-लेखकों के समागम से जो सुख और आनंद उसे प्राप्त होता था वह लंदन के किसी अन्य मनुष्य के मिलने से कभी नही होता था।"

गिबन ने कहा है कि—"यदि कोई मुझे हिंदुस्तान की सब संपत्ति देने को कहे तो भी मैं अपनी पढ़ने की रुचि कभी दूसरे को नहीं दूँगा।" इससे स्पष्ट है कि सुख और संपन्नता से भरे हुए गिबन के जीवनक्रम में यह ग्रंथावलोकन का प्रेम एक महत्-तत्त्व बन गया था।

इतिहास के पढ़ने से मनुष्य युवा से वृद्ध बनता है, परंतु उसके बाल सफेद नहीं होते, न उसके मुँह पर बुढ़ापे के चिह्न दिखाई देते हैं। उसे वृद्ध पुरुष के अनुभव की योग्यता प्राप्त हो जाती है। तथापि वह हीनवल नहीं होता।

ग्रंथ इतने मनोहर होते हैं कि उनके अध्ययन में हम अपने अन्य कर्तव्य भूल जाते हैं। परंतु उन्हें भूलना ठीक नहीं है। अपने मन को संस्कारपूर्ण करने में लगे रह कर हमें अपनी शक्ति और आरोग्यता की ओर कम ध्यान नहीं देना चाहिए।

जिन्हें पढ़ने की ओर विज्ञान की धुन रहती है उन्हें शारीरिक व्यायाम अर्थात् वर्ज़िश करना पसंद नहीं आता। उनकी

हालत जेन ग्रे के समान हो जाती है। जिस समय सड़क पर बाजे बज रहे हैं, कुत्ते भौंक रहे हैं और चहल पहल के मारे सब मार्ग भर रहा है उस समय वह युवती अपने मंदिर के एक झरोखे में बैठी—"सुकरात ने विचार की स्वाधीनता के लिये प्राण अर्पण करने के हेतु जेलखाने के दुःखी अफ़सर के हाथ से ज़हर का प्याला कैसे लिया," इस हृदय-विदारी प्रसंग की कथा पढ़ने में मग्न थी। इस प्रकार कई लोग पढ़ने की धुन में शरीर के स्वास्थ्य और खेल की तरफ़ ध्यान नहीं देते। लार्ड डर्बी ने यथार्थ कहा है—"जिस किसी को व्यायाम या वर्ज़िश करने के लिये फ़ुरसत न हो उसे बीमार पड़ कर व्यर्थ समय गँवाना पड़ेगा।"

आज कल ग्रंथ इतने कम दामों में मिलते हैं कि वे सब के लिये सुलभ हैं। यह बात पहले न थी। किसी ग्रंथकार ने कहा है कि—"मैं जब लड़का था तब सेलबोर्न की बनाई हुई 'नेचुरल हिस्ट्री' नामक पुस्तक मुझे इतनी प्यारी लगी कि उसकी एक प्रति अपने पास रखने की इच्छा के कारण वह संपूर्ण पुस्तक मैंने अपने हाथ से लिख ली।"

मेरी लैंब ने एक बालक की एक मनोहर कथा कही है—"पुस्तक बेचनेवाले की दूकान पर एक दिन मैं गई थी; वहाँ मैं क्या देखती हूँ कि एक लड़का पुस्तक खोले बड़े चाव से पढ़ रहा है। उस दुकानदार ने उससे कहा—'लड़के! तू कभी किताब भी ख़रीदता है? तुझे यहाँ किताब पढ़ने की

मनाही है।' यह सुन कर वह लड़का खिन्न होकर उठ कर चलने लगा और बोला—'अगर मुझे पढ़ना ही न सिखाया गया होता तो अच्छा था। क्यों मैं इस बुड्ढ़े की किताब को हाथ लगाता ?'

जब कभी समय मिल जाय तभी विद्या के आनंद का स्वाद लेने से चित्त को बड़ी ही प्रसन्नता होती है, क्योंकि थोड़े समय का वह आनंद अधिक सुखदायक होता है। कई एक पढ़नेवाले एक ही विषय पर मन में विचार करते रहते हैं। वे पढ़ने के आनंद से वंचित रह जाते हैं। कई लोग रेल में यात्रा करते समय एक ही पुस्तक पढ़ने के लिये अपने साथ लेते हैं परंतु अगर वह पुस्तक उपन्यास जैसी चित्त-हारिणी न हुई तो थोड़े ही समय में उससे तबीयत ऊब जाती है। ऐसे समय में अगर २–३ पुस्तकें साथ हों तो एक को छोड़कर दूसरी पढ़ने को दिल चाहेगा, और दूसरी को छोड़ने पर तीसरी को। इस प्रकार बहुत अधिक समय भी आनंद से कट जायगा। परंतु सब ही के लिये यह बात एक सी न होगी।

रेल में पढ़ना कोई व्यवस्थित अभ्यास नहीं है, तथापि ऐसे पढ़ने में भी जितने अधिक ग्रंथ देखने में आवें उतना उत्तम है। इससे यह लाभ होगा कि हर एक विषय के उत्तम ग्रंथों का हमें ज्ञान होगा। एक बार आप ऐसे ग्रंथों के पढ़ने का आरंभ कर दीजिए फिर स्वयं ही आप दूसरे ग्रंथ पढ़ने की

इच्छा करने लगेंगे। हर एक पुस्तक को केवल पढ़ ही लेने से काम नहीं चलता, किसी उत्तम ग्रंथ के पढ़ने पर उसका दृढ़ परिचय प्राप्त करके उसके विषय का चिंतन करना चाहिए। परंतु ऐसे ग्रंथ बहुत थोड़े होते हैं। साधारणतः पुस्तकें शीघ्रता के साथ पढ़ कर उनमें जहाँ जहाँ रम्य प्रसंग हों, उन्हीं पर विचार करने से प्रायः संपूर्ण ग्रंथ के पढ़ने का फल मिल जाता है। इसमें संदेह नहीं कि पठन की इस परिपाटी से बहुत सी अच्छी बातों का ज्ञान होने से हम वंचित रह जाते हैं, तथापि अनेक ग्रंथों का अवलोकन होने से बहुत लाभ होता है, इसमें भी संदेह नहीं।

"कुछ विषयों का यथावत् ज्ञान होना और सब विषयों का थोड़ा थोड़ा ज्ञान होना अच्छा है।" यह ब्रूम की कहावत ग्रंथावलोकन के लिये भी घटित हो सकती है। इस तरह से हमारे मन की स्वाभाविक रुचि किस विषय की ओर अधिक झुकती है, यह बात अपनी समझ नें आने लगती है, क्योंकि यह एक साधारण नियम ही समझना चाहिए कि जिस पुस्तक के द्वारा हमें आनंद नहीं मिलता, उससे ज्ञान का भी लाभ होना असंभव है। तथापि ग्रंथ-भांडार और विषयों की भिन्नता इतनी अधिक है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने का विचार करे तो उसके लिये पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

ग्रंथालय एक अखंड संपत्ति से भरा हुआ मंदिर है।

इतना ही नहीं किंतु उसके कारण अपने घर बैठे ही जगत् के प्रत्येक भाग में हम संचरण कर आते हैं। कप्तान कुक और डार्विन अथवा किंग्स्ले और रस्किन के साथ हम पृथ्वी-पर्यटन कर सकते हैं और हम जो कुछ देख सकते हैं उससे कितना ही अधिक चमत्कार वे हमें दिखा सकते हैं। जगत् की सीमा के बाहर उनके संग हम संचार कर सकते हैं। हंबोल्ट हर्शल के साथ सूर्य और ताराओं के आगेवाले गूढ़ मंडल में हम भ्रमण कर सकेंगे। इस प्रकार समय और आकाश की सीमा का अंत न रहेगा, क्योंकि पूर्व काल में मनुष्य की उत्पत्ति के पहले लाखों बरस का जो समय वीत गया उसमें और हमारे इस जगत की उत्पत्ति के समय में भी भूगर्भ विद्या हमें पहुँचावेगी। इन ग्रंथों में एक ही तरह की विचार-परिपाटी नहीं होती। अध्यात्म विद्या का रहस्य जानना पूर्व शिक्षा के सिवा कठिन है, परंतु वह भी उससे चाहे समझ में न आवे तथापि जिसमें आनंद ही आता है ऐसी विचार-प्रणाली से अरस्तू और अफ़लातून हमें परिचित करा देते हैं।

शांति, संतोष, विश्राम और सुख, ये न्यामतें जिन्हें प्राप्त करनी हों उन्हें वे घर बैठे प्राप्त हो सकती हैं। जिस ग्रंथ-भांडार की संगति से ये प्राप्त होती हैं उसके द्वार को खोलने की चाबी मात्र अपने पास होनी चाहिए। पुस्तकालय एक इंद्रभवन है, वह प्रत्यक्ष आनंद-मंदिर है, वहाँ जगत्प्रसिद्ध, राजकार्य-धुरंधर कविकोविद रत्न, महात्मा पुरुष और विज्ञान-

विशारदों से हमारा परिचय होता है और अत्यंत उच्च कोटि की बुद्धिमानी की कल्पना-सृष्टि के विशाल वैभव का हम लाभ उठाते हैं।

४—ग्रंथों का चुनाव।

जहाँ ग्रंथों की विपुलता होती है वहाँ किस ग्रंथ को पढ़ना चाहिए और किसे नहीं, इस बात का विचार करना पड़ता है। हिंदी भाषा में तो ऐसा अगाध ग्रंथ-महोदधि अब तक निर्माण नहीं हुआ है कि ग्रंथों का चुनाव करना कठिन हो। तथापि इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन और नवीन ग्रंथों का जितना समुदाय इस समय एकत्र हो चुका है उसमें से भी अच्छे ग्रंथ कौन से हैं, यह कह देना अवश्य ही बड़ा कठिन है। एक साधारण शिक्षित मनुष्य का जो सांसारिक उद्योग के धंधों में लगा हुआ है, फुर्सत के समय निरी हिंदी भाषा द्वारा मनोरंजन होकर उसका समय आनंद में बीते और वह समय के अनुसार बहुश्रुत बनता जाय, ऐसा अगर ग्रंथावलोकन का मुख्य उद्देश्य समझा जाय तो विविध विषयों पर सरल और सुगम भाषा में लिखे हुए ग्रंथ उसे पढ़ने के लिये मिलने चाहिएँ। वैसे ग्रंथ हिंदी भाषा में अब तक कम बने हैं, परंतु यह शोचनीय दशा बहुत समय तक नहीं रहेगी, ऐसे चिह्न दिखाई देने लगे हैं। इस लिये हमें चाहिए कि हम अधिक उत्साह से आगे बढ़ें।

हिंदी भाषाभाषियों को पुस्तकें पढ़ने की रुचि ही कम है, यह बात सत्य है और फिर ग्रंथ-संपत्ति भी कुछ बहुत बड़ी

नहीं है, जिसका यह फल देखने में आता है कि निरी हिंदी जाननेवाले गृहस्थ को देखा जाय तो उसका ज्ञान जितना कि होना चाहिए उतना विस्तृत नहीं होता। इस लिये जो थोड़ी बहुत शिक्षा उसे बाल अवस्था में मिलती है उसी पूँजी पर उसे अपना जन्म पूरा करना पड़ता है। उसे इस तरह एकदेशीय और परिमित शिक्षा मिली होने के कारण वृथाभिमान, दुराग्रह, धर्मांधता इत्यादि दुर्गुण उसके व्यवहार में पैदा हो जाते हैं। अपनी वस्तु उत्तम है, यह कहना स्वाभिमान का दर्शक है परंतु यह कहना कि हमें बाहर से कुछ भी सीखना बाकी नहीं है, व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की उन्नति में बाधा डालनेवाला है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
संतः परीक्ष्यान्यतरद्भजंते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

—कालिदास।

अर्थात्—पुरानी हैं इसलिये सब वस्तुएँ अच्छी हैं और नई हैं इसलिये त्याग करने योग्य हैं, यह कहना ठीक नहीं। मूर्ख लोग दूसरों की बुद्धि पर चलनेवाले होते हैं परंतु सज्जन लोग स्वयं परीक्षा करके नई अथवा पुरानी बातों को ग्रहण करते हैं।

कविकुलअवतंस कालिदास की उपर्युक्त उक्ति के अनुसार

खुले अंतःकरण से और उदार चित्त से भले बुरे का विचार करके सब विषयों की ओर देखना चाहिए और दूसरों के मत पर ही अवलंब न करके अपनी विचार-दृष्टि से मनन करके अपना निज का विचार स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार अपना स्वतंत्र विचार और मत क़ायम करना आत्मोन्नति का एक साधन है। यह साधन ग्रंथावलोकन से अंशतः प्राप्त होता ही है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। परंतु यदि वे ग्रंथ जो पढ़ने में आते हैं एकदेशीय हों तो उनका चाहे जितना पाठ किया जाय तो भी फल एकदेशीय ही होगा। सार्वदैशिक और विस्तृत ज्ञान का लाभ तो विविध विषयों पर लिखे हुए ग्रंथों के पढ़ने से मिलता है। ऐसे सब विषयों के उत्तमोत्तम ग्रंथ हिंदी भाषा में विद्यमान हैं, यह बात हिंदी का कट्टर अभिमानी भी नहीं कह सकता।

परंतु सांप्रत जो कुछ ग्रंथ-सामग्री मौजूद है उसी से निर्वाह करना उचित है। इसलिये साधारण शिक्षा प्राप्त किए हुए और संसार के व्यवसाय में पड़े हुए केवल हिंदी भाषा जाननेवाले ग्रंथावलोकन के अभिलाषी लोगों को हिंदी भाषा के कौन कौन ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ, उनकी एक नामावली कतिपय हिंदी के सुविख्यात और मान्य विद्वानों के विचार से तैयार करानी चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नामावली वैसी नहीं होगी जैसी कि होनी चाहिए। इसके विषय में भिन्न भिन्न लोगों के भिन्न भिन्न मत होंगे, यह बात

सब लोग जानते हैं। उसकी इतनी उत्तमता होना हम नहीं मानते कि वह सब लोगों को मान्य हो जाय। वह केवल पढ़ने वालों की मार्ग-दर्शिका बनाने और भविष्यत् में सुधारे जाने के हेतु से बनाई जाय। विदेशी भाषाओं के मुख्य मुख्य ग्रंथकर्ताओं के ग्रंथों का अंशतः परिचय होना भी आवश्यक है, यह बात नवीन शिक्षित लोगों के विचार करने योग्य है, क्योंकि उन विख्यात विदेशीय ग्रंथकारों की श्रेष्ठतम पुस्तकों के अनुवाद तक हिंदी में नहीं हैं। मुसलमानों का और हमारा साथ आज सैकड़ों बरसों से है और वे हमारे पड़ोसी हैं, उन्होंने भारतवर्ष ही के लोगो पर नही वरंच अन्य अन्य देशों पर भी विजय प्राप्त की थी। उनके समागम से हमारे और अन्य लोगों के राजकीय, सामाजिक और धार्मिक विचारों में कुछ परिवर्तन हुआ है, और आगे भी ये लोग अगर हमारे अभ्युदय के काम में सहायक न हुए तो उसमें बहुत बड़ी बाधा होने की संभावना है। ऐसे लोगों का श्रेष्ठ धर्मग्रंथ शरह महम्मदी और उनके प्राचीन इतिहास का ज्ञान हम में से कितने विद्वानों को प्राप्त है? कुरान सरीफ़ का अनुवाद हिंदी भाषा में न होना बड़े अफ़सोस की बात है। ईसाई मतानुयायी लोगों का हमारे यहाँ राज्य है। उस मत का हम लोगों में प्रचार करने के लिये ईसाइयों के अविरल यत्न जारी हैं। उन्होंने पुरानी और नई इंजील के अनुवाद करके हिंदी में छपवाए हैं परंतु उन्हें पढ़ कर उस धर्म के प्रधान तत्वों का

हाल थोड़े ही लोगों ने जाना होगा। संभव है कि उन अनुवादों की भाषा उत्तम न हो तो भी ईसाई धर्म का अंशतः ज्ञान हिंदी के पाठकों को होना आवश्यक जान कर उन ग्रंथों का संग्रहीत होना उचित है।

प्राचीन तत्वदर्शियों में अरस्तू के ग्रंथों को प्रथम स्थान देना योग्य है। सांप्रत जो वैज्ञानिक विचार-परिपाटी युरोप में प्रचलित है उसका उत्पादक यद्यपि अरस्तू न भी हो तो भी वह उसका पहला ग्राहक था। उससे बताए हुए तत्त्व युरोप में शिक्षित लोगों में इतने नित्य के व्यवहार में मँज गए हैं कि वे लोग उन्हें स्वयंसिद्ध से मानते हैं। उसके बतलाए हुए सिद्धांत भी बड़े लोकोत्तर हैं। उसी प्रकार प्लेटो की योग्यता भी बहुत बड़ी थी। उसके उपदेश इतने उच्च कोटि के, नीति इतनी विशुद्ध, परमेश्वर के विषय में तथा मनुष्य के मरने के पश्चात् होनेवाली दशा के विषय में विचार इतने सरस और गंभीर हैं कि उन्हें देख कर विचारवान् लोग आश्चर्य से मुग्ध हो जाते हैं। ऐसे प्राचीन ग्रंथकर्ताओं के विचारों का तथा जेनोफन, मार्कस आरीलियस, इपिक्टेटस और डिमास्थानीज़ इत्यादि मुख्य मुख्य ग्रंथकारों के ग्रंथों का परिचय हिंदी भाषा जाननेवालों को होना चाहिए। उसी तरह कानफ्यूशियस के चुने हुए लेख, ईलियड और इनियड महाकाव्यों के मनोहर उद्धृत भाग, कूक और हंबोल्ट की जल-

यात्रा और प्रवास वर्णन आदि ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद हो जाय तो हिंदी भाषा के पाठकों को बड़ा लाभ होगा।

आज कल हमारे नवीन शिक्षित लोगों का ग्रंथ-निर्माण की ओर बहुत कुछ ध्यान आकृष्ट हुआ है। आशा की जाती है कि इससे ऊपर बतलाए हुए ग्रंथों का लाभ हिंदी भाषाभाषियों को थोड़े ही समय में होकर हिंदी-साहित्य में जो ग्रंथ संग्रह है, वह और भी अधिक विशाल और सुंदर होगा।

ऊपर हम कह आए हैं कि हिंदी भाषा में ग्रंथ अधिक नहीं हैं पर इससे यह न समझना चाहिए कि ग्रंथों के चुनाव के लिये उसमें अवकाश ही नहीं है। हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि हिंदी में अच्छे ग्रंथों के चुनाव के लिये क्षेत्र ही नहीं है क्योंकि अनेक पुस्तक-प्रकाशकों के छपवाए हुए विज्ञापनों को हम देखते हैं, प्रति वर्ष नए नए उपन्यास नाटक आदि ग्रंथ जल्दी जल्दी छपते चले जाते हैं और जो पहले छप चुके हैं उन्हें देख कर कौन पुस्तक पढ़ने योग्य है और कौन नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिये बहुत कुछ स्थान है, दूसरे पुस्तक पसंद करना केवल पुस्तक ही की उत्तमता पर निर्भर नहीं है किंतु पढ़नेवाले की रुचि पर भी अवलंबित है। यही कारण है कि हमने उक्त नामावली बनाने की चेष्टा करने की सलाह दी है। परंतु जिस भाषा में ग्रंथ-संपत्ति अटूट है उसमें से ग्रंथों का चुनाव बुद्धिमान् लोग करते हैं, वह किस तत्त्व के अनुसार किया जाता है, यह बात मालूम

हो जाने से एक तरह की शिक्षा मिल सकती है। यह जान कर सर जान लबॅक ने इस विषय में जो कहा है वह यहाँ कह देना अनुचित न होगा। "ग्रंथों का चुनाव" शीर्षक एक प्रकरण उन्होंने अपने ग्रंथ में दिया है उसका भावार्थ ही हम नीचे दिए देते हैं—

"सात्विक गुण से भरे सुसेवक निज मंदिर में बसते हैं"—यह डाक्टर की उक्ति है। और सचमुच देखा जाय तो कभी कभी अपनी सेवा करने के लिये ग्रंथ जन-सेवकों की तरह सेवा करने के लिये तत्पर रहते हैं परंतु हम उनसे सेवा नहीं लेते, क्योंकि ग्रंथों की इतनी भरमार है कि उनमें से किसे दूर कर दें और किसे निकट रक्खें, यही समझ में नहीं आता।

"पहले ग्रंथों का मिलना दुष्कर था और उनके लिये मूल्य भी बहुत देना पड़ता था, परंतु अब वह बात नहीं है।

"हमारे पूर्व पुरुषों को ग्रंथ संग्रह करना बड़ा कठिन होता था। हमें उनके चुनाव की कठिनाई है। हमें इस बात में बहुत सावधानी रखनी चाहिए कि कौन कौन पुस्तकें न पढ़ी जाँय और कौन कौन पढ़ी जाँय। नहीं तो अग्राह्य पुस्तकें पढ़ने में हमारा समय व्यर्थ नष्ट होगा क्योंकि कुमार्ग में ले जानेवाली पुस्तकें बहुत हैं।

"ग्रंथों में भिन्नता और विविधता तो अवश्य होती है परंतु बहुत से ग्रंथ ऐसे हैं कि उन्हें "ग्रंथ" कहना भी भारी भूल है। बिना विचारे ऐसे ग्रंथों के पढ़ने से हम कितने शुद्ध

आनंद से वंचित रह जाते हैं, इस बात का विचार किया जाय तो हमें आश्चर्य होगा। एक कहावत है कि "दैवी संकट एक बार टल सकता है परंतु स्वयं उपजाई हुई विपत्ति से बचने का कोई उपाय नहीं है।"

"जिन ग्रंथों का विचार किए बिना समझना कठिन है, ऐसे ग्रंथ बहुधा इस भय के कारण नहीं पढ़े जाते कि वे हमारी समझ ही में नहीं आवेंगे। परंतु यदि यत्न किया जाय तो यह कहने का अवसर न होगा कि उन्हें समझने योग्य हमारी बुद्धि ही नहीं है। जिस विषय की हमें रुचि हो उस विषय के ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ। डार्विन का कथन है कि—"जिस विषय में अपना चित्त लगे वही विषय सीखना चाहिए।" यही बात ग्रंथावलोकन के लिये भी ठीक है।

"इंगलैंड में विद्या का प्रचार इस क़दर हो रहा है कि होनहार संतति में पढ़नेवाले लोग क़ानूनदाँ, भिषक्, शास्त्रज्ञ, दूकानदार या कारख़ानेवाले न होंगे किंतु मज़दूर और कारीगर होंगे। क्योंकि दिन पर दिन व्यवहार में कविराज, दूकानदार इत्यादि लोगों को मानसिक परिश्रम बहुत करने पड़ते हैं। इस लिये उनके व्यवसाय के कार्य से बचे हुए समय को उन्हें व्यायाम अर्थात् शारीरिक श्रम की ओर ही लगाना चाहिए। परंतु कारीगरों और मज़दूरों को अपने नित्य के व्यवसाय में ही पर्याप्त शारीरिक परिश्रम हो जाता है, इससे फ़ुरसत के समय ग्रंथावलोकन और अभ्यास करने

के लिये उन्हें अवकाश मिलेगा। अभी तक यह बात न थी परंतु अब मज़दूर और कारीगरों को पाठशालाओं में उत्तम प्राथमिक शिक्षा मिलने लगी है, और उनको उत्तम ग्रंथ पढ़ने को मिलने के भी बहुत से साधन प्रस्तुत हैं।

रस्किन् का कथन है कि—"हमें जो कष्ट सहने पड़ते हैं उनका मुझे जितना आश्चर्य मालूम होता है उससे अधिक आश्चर्य इस बात का है कि हम अपने हाथों कितना समय नष्ट कर देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि औरों के दोषों के कारण हमें कष्ट उठाने पड़ते हैं तथापि यह बात भी झूठ नहीं है कि हम स्वयं अपने अज्ञान के कारण भी बहुत से सुखों से दूर रह जाते हैं।" सर जान हर्शल ने लिखा है कि "जिस व्यसन से सब अवस्थाओं में मेरी वृत्ति संतुष्ट रहेगी, मेरी संपूर्ण जीवन-यात्रा में मुझे जिससे सुख प्राप्त होगा और सब परितापों से मेरी रक्षा होगी, ऐसा वर माँगने का अवसर यदि मुझे मिले तो ईश्वर के सन्निध मैं यही प्रार्थना करूँगा कि 'हे भगवान्, मुझे ग्रंथावलोकन की रुचि दीजिए।' फिर अगर सब संसार मेरे प्रतिकूल हो जाय तो भी मुझे कुछ चिंता न होगी। यह ग्रंथ-पठनासक्ति मैंने परमेश्वर से माँगी, इससे यह न समझा जाय कि पारमार्थिक विषयों की प्रीति से जो एक संतोष का सच्चा मार्ग हमें मिला है उसके महत्व को मैं कम समझता हूँ। ग्रंथाभिरुचि, ऐहिक समाधान और आनंद के प्राप्त करने का एक साधन है। इससे अधिक उसकी बड़ाई मैं नहीं करता।

ग्रंथाभिरुचि हो और उसे तृप्त करने के साधन प्राप्त हों और बुरी पुस्तकें हाथ में न पड़ें तो ग्रंथावलोकन से मनुष्य को अवश्यमेव सुख का लाभ होगा, इसमें संदेह नहीं है।"

श्रीमद्भागवत में कहा है—"एकं विद्याव्यसनं अथवा हरि-पादसेवनं व्यसनं।"

"यह न समझना चाहिए कि हमारे पास ग्रंथों का संग्रह होने से ही सब काम हो गया। हमें उनका बुद्धिमानी के साथ उपयोग करना चाहिए। क्या पढ़ना चाहिए और क्या नहीं, इस विषय में लोग निश्चिंत रहते हैं, यह देख कर आश्चर्य होता है। ग्रंथभांडार असीम हो गया है और दुर्भाग्यवश पढ़ने के लिये समय बहुत थोड़ा मिलता है तो भी जो ग्रंथ हाथ में पड़ जाय उसे ही लोग पढ़ते हैं, अपने मित्र के कमरे में जो पुस्तक मिल जाय उसे ही उठा लेते हैं, रेल के स्टेशन पर किताबवाले की दूकान पर जिस किसी चटकीले उपन्यास का नाम देखते हैं ख़रीद लेते हैं, कभी कभी तो पुस्तक की सुनहली चमक दमक वाली जिल्द ही पर मोहित होकर उसे अपना लेते हैं। इससे अच्छे ग्रंथों का चुन लेना सहज बात नहीं है। इस कारण अगर कोई ज्ञानवान् पुरुष उत्तम श्रेणी की सौ पुस्तकों की नामावली बना कर उसे पढ़ने की सिफ़ारिश करे तो बहुत अच्छा हो। अपने पढ़ने की पुस्तकों का चुनाव अपने आप ही करना अच्छा है, ऐसा कई लोगों का विचार है। परंतु तैरना

आने के पहले किसी को पानी में नहीं जाना चाहिए, इस उप- देश के समान ही यह विचार व्यर्थ है।

"एक कहावत है कि "पुराना इंधन जलाने को, पुराना मद्य पीने को, पुराना मित्र विश्वास करने को और पुराना ग्रंथ पढ़ने को सुखकर होता है।" परंतु यह कहावत सब तरह सत्य नहीं है, क्योंकि आधुनिक ग्रंथों में अधिक विश्वसनीय ज्ञान और श्रद्धेय सिद्धांत संगृहीत होने की संभावना है। प्राचीन काल के वा प्राचीन पुरुषों के ग्रंथ गत समय की दृष्टि से यद्यपि मनोरंजक होंगे तो भी सांप्रत के लोगों की रुचि अधिकतर आधुनिक ग्रंथों की तरफ़ है।

"प्राचीन समय की पुस्तकें पुरानी होने से मनोरंजक नहीं होतीं या गिनने योग्य नहीं होतीं, यह कहना भी ठीक नहीं है। जिन ग्रंथों ने युग युगांतर और दूर देशांतर की लाखों प्रजा का मन आकर्षित करके उनके विचारों को एक तरह से रूप और रुचि दी वे पढ़ने योग्य तो अवश्य ही हैं। बहुधा ऐसे पुराने ग्रंथ अनुवाद द्वारा ही पढ़े जाते हैं, पर हर एक स्थल पर अनुवाद में मूल का भाव संपूर्ण रीति से प्रगट हो जाना आवश्यक नहीं है तथापि कई अनुवाद प्रशंसनीय होते हैं।"

सर जॉन लबॅक के ऊपर लिखे हुए विचारों पर ध्यान दे कर पढ़ने के लिये ग्रंथों का चुनाव किया जाय तो बहुधा दोष नहीं रहेगा। इस प्रकार ग्रंथ पसंद किए जाने पर उत्तम ग्रंथों का परिचय हो तो दिन भर के परिश्रम से श्रांत होकर

रात के समय घर में बैठ कर पढ़ने के आनंद में व्यतीत की हुई घड़ी का स्मरण होते ही चित को आनंद और संतोष होगा। और जो ग्रंथ-मित्र अपने से ऊब नहीं उठते और जो अपनी कभी हानि अथवा अपना त्याग नहीं करते उनकी इस कृपा के लिये हम सदैव उन्हें आशीर्वाद देते रहेंगे।

५—मित्र-लाभ।

जिन लोगों ने ग्रंथ-महिमा का बखान किया है उनमें से अधिकतर लोगों ने ग्रंथ को मित्रों का उपमा दी है, क्योंकि ग्रंथों की श्रेष्ठता पूरी तरह से ध्यान में आने के लिये मित्र के समान अन्य उत्तम उपमा उन्हें नहीं सूझी। सुकरात का कहना है कि "सब लोग घोड़े, कुत्ते, संपत्ति, मान, सम्मान इत्यादि की हवस करके उनके पाने के लिये परिश्रम करते हैं, परंतु मुझे किसी मित्र के समागम का लाभ होने से जितना संतोष होगा उतना उन सब चीज़ों के मिल कर प्राप्त होने पर भी नहीं होगा। जिनके पास अतुल संपत्ति है उन्हें इसका कुछ न कुछ तो अंदाज़ होता ही है कि हमारे पास क्या माल मता है, परंतु उनके मित्र यद्यपि थोड़े ही क्यों न हों तथापि वे कितने हैं, इसका ज्ञान उन्हें नहीं होता। किसी ने अगर प्रश्न किया और उन्होंने मित्रों की गिनती करने का यत्न भी किया तो भी वे अपने मित्रों के विषय में इतने उदासीन होते हैं कि जिन्हें उन्होंने पहले मित्रों में गिना था उन्हें अब छोड़ देते हैं। परंतु यदि अपनी मालियत से मित्रों की तुलना की जाय तो क्या वे अधिक क़ीमती नहीं साबित होंगे? सब चीज़ों के मूल्य के विषय में बहुधा सब में मतभेद होता है परंतु मित्रों के मूल्य के विषय में सब का एकमत ही होता है। अपने

फूलों को भी बिन उद्यम के वह प्राप्त नहीं हुआ है वनस्पति भी बड़ी उद्यमशीला है । फूल अपनी जड़ में आगामी वर्ष में उत्पन्न होनेवाले फूलों के जीवन को संगृहीत करते हैं। इस प्रकार उद्यम करते हुए भी उन्हें चिंता क्या है, यह मालूम नहीं रहता।

"समय के पर हैं। समय अपने बनानेवाले ईश्वर की ओर वेग से उड़ कर जाता है और उसे अपने परिश्रम के समाचार सुनाता है। हम कितनी ही विनती करें तो भी बीती हुई घड़ी फिर नहीं आती और न वह अपने वेग को कम करती है। व्यर्थ व्यतीत की हुई घड़ी ईश्वर के घर की हिसाब-बही में हमारे नाम ख़र्च में लिखी जाती है। अगर हम जानते हैं कि व्यर्थ समय टाल देने से कोई लाभ नहीं तो उसका अच्छा उपयोग न कर के उसे व्यर्थ या अपनी जीवन-यात्रा की बुरी ख़बर ले जाने न देना चाहिए। अगर हमारा समय हमारी अच्छी ख़बर और अच्छे कर्मों के फल परमेश्वर के पास ले आय और बुरे कामों के अभाव में हमारे सुकृतों की साक्षी दे तो हम कितने सुखी होंगे?"

लोग कहते हैं, समय भागता है। परंतु सचमुच वह भागता नहीं है; हम उसे व्यर्थ ख़र्च कर देते हैं। समय न हो तो अच्छा है परंतु व्यर्थ समय व्यतीत करने के बराबर दूसरी हानि नहीं है। "मैंने आज तक मुफ्त में समय बिताया। अब समय (काल) मुझे बिता रहा है" रिचर्ड (दूसरे) की यह उक्ति कितनी विचारणीय है।

जर्मी टेलर कहता है कि जो मनुष्य अपना समय चौकसी से बिताता है वह इस बात का विचार करके चलता है कि मुझे किसकी संगति करनी चाहिए और किसकी नहीं, मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं? इस तरह यदि वह न चला तो उसका समय बुरी सोहबत में नष्ट होकर उसकी हानि होती है अथवा उसके हाथ से कोई ऐसा बुरा काम बन पड़ता है जिसके कारण उसका जन्म विफल होकर वह संसार के चक्कर में आ जाता है।

मनुष्य की आयु साठ बरस की मानी जाती है। उसमें से बहुत थोड़ा समय अपना निज का होता है। नींद में, खाने पीने में, पहनने ओढ़ने में और कसरत में कितना समय जाता है? इतना समय घटा देने से बाक़ी कितना समय अपने हाथ लग सकता है?

लैंब का बचन है कि "मैं कहने को ५० बरस जीया हूँ, उसमें से दूसरे के लिये मैंने अपना समय कितना खर्च किया, इसका हिसाब देखता हूँ तो मुझे मालूम होता है कि मैं अभी बच्चा हूँ। दूसरे के लिये लगाया हुआ समय संपूर्ण जीवन के समय में से घटाया नहीं जा सकता। जिस समय मे अपना या दूसरे का कुछ भी लाभ न हुआ हो वह उसमें से घटाये जाने योग्य है। दुःख की बात है कि ऐसा घटा देने योग्य समय थोड़ा नहीं होता।"

सेनेका ने कहा है कि कितना ही समय हम से छीन लिया

जाता है, कितना ही चुरा लिया जाता है और कितना ही अनजाने हमारे हाथों से निकल जाता है, परंतु एक बार उसके निकल जाने पर किसी तरह भी वह वापस नहीं आता।

स्विट्ज़रलैंड में एक ज्ञानवान् पुरुष रहता था। उसकी आय केवल एक हज़ार रुपए वार्षिक थी। तिस पर भी वह उसमें से कुछ धन एक छोटा सा अजायबघर बनाने के लिये खर्च करता था। एक सज्जन ने उससे पूछा कि आप कोई नौकरी क्यों नहीं कर लेते? उसने उत्तर दिया कि मुझे जो समय मिलता है वह सोना चाँदी से भी अधिक मूल्यवान् है। इस लिये मैं अपना एक पल भर भी धन के अर्जन में नहीं व्यतीत करूँगा।

समय परमेश्वर की दी हुई एक बड़ी बख़शिस है। एक एक दिन एक छोटी सी ज़िंदगी है। लंदन जैसे शहर में रहने से मनुष्य के लिये क्या क्या उपकरण मनोरंजन के प्रस्तुत होते हैं, इस बात का थोड़ी देर के लिये विचार किया जाय तो वहाँ सारी दुनिया की भाषाओं की ग्रंथ-संपत्ति का उपभोग लेने का मौक़ा मिलता है। राष्ट्रीय चित्रागार में पिछली पीढ़ी के और रायल अक्याडमी और इसी प्रकार की अन्य चित्रशालाओं में आज कल के बड़े बड़े नामी चित्रकारों के बनाए हुए सुंदर चित्र देखने को मिलते हैं। वहाँ का अजायबघर इतना सुंदर है कि उसे संपूर्ण देखने के लिये आज तक किसी को समय मिला होगा या नहीं, इसमें संदेह है। इस विचित्र वस्तु-

संग्रहालय में सब कुछ दिखाई पड़ता है। ऐसे जीवों के ढाँचे जो पहले समय में पृथ्वी पर जीवित थे परंतु अब निर्बीज हो चुके हैं और ऐसे जीव जो सांप्रत जीवित मिलते हैं, सैकड़ों राक्षसकाय प्राणी, भूगर्भ में मिले हुए विचित्र शरीर, सुंदर पशु पक्षी, सीप, शंख और अनेक खनिज द्रव्य, अमूल्य रत्न, आकाश से गिरे हुए उल्का के टुकड़े, प्राचीन समय की चमत्कारिक चीजें, मनुष्य जाति के जुदा जुदा भेद दिखानेवाले अनोखे नमूने, तरह तरह के सिक्के, काँच और चीनी के बर्तन, एलिगन में निकलनेवाले संगमरमर के पत्थर, डायना के देवालयों के टूटे फूटे अवशिष्ट भाग, मिस्र और असीरिया देशों के स्मारक, इंगलैंड के प्राचीन समय के लोगों के अंडबंड आकार के हथियार, कस्तूरी मृग, युनानी और रोमन लोगों के कला कौशल के सुंदर नमूने इत्यादि असंख्य आश्चर्यजनक पदार्थों का संग्रह अजायबघर में किया गया है।

दुःख और क्लेश किसी को नहीं छोड़ेंगे, पर उदास और खिन्नचित्त रहने की आवश्यकता नहीं है, तो भी बहुत से लोग उदासीन रहते हैं। यह स्वयं उनकी भूल है और वे इस प्रकार अपने वर्त्तमान जीवन को तुच्छ समझते हैं और यह आशा करते रहते हैं कि मृत्यु के अनंतर हमें सुख की प्राप्ति होगी।

सर हेलप्स ने कहा है—"ऐ भाई! तुम ऐसे खिन्न क्यों रहते हो? यह फूल इतना मनोहर क्योंकर हुआ? इसमें इतने गहरे रंग कहाँ से आए? गुलाब में खुशबू कहाँ से आई?

ऐसे दुर्बल और वयोवृद्ध प्राणी का इस अगम्य स्थान में आना क्योंकर हुआ होगा अथवा क्या साक्षात् जटाधारी शंकर ही इस रूप में वनश्री का विहार करने निकले हैं, आदि कल्पना करता हुआ यात्री आश्चर्य से स्तमित हो गया। महात्माजी ने उसे आश्चर्य-सागर में डूबा देख बोलने का उपक्रम किया—"बच्चा! मुझे इस दुर्गम स्थान में देख तुम्हें अचरज हुआ, यह बात मैं कभी समझ गया हूँ परंतु मैं तुझे अपने यहाँ आने का कारण सुनाता हूँ। थोड़े ही दिन हुए मैं बहुत बीमार हो गया और मेरे शिष्य ने मेरे प्राणों की आशा छोड़ दी। मैंने श्वास का निरोध करके समाधि लगाई और सोचा कि क्या सचमुच ही मेरे देहांत होने का समय आ गया है? मेरी समाधि में मुझे श्रीशंकर कैलाशपति के एक गण का दर्शन हुआ। उसने बड़े आवभगत से मुझे बैठा लिया और पूछा—"बाबाजी! आपने अभी जिस पृथ्वी को छोड़ा है उसके विषय में आपके क्या विचार हैं?" उस देवगण की बात सुन कर मैं कुछ विस्मित हुआ। विचार करने लगा कि जिस पृथ्वी पर रह कर मैंने आज तक परमार्थ के उपदेश का काम करने में जन्म व्यतीत किया उस पृथ्वी का हाल तो मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। मैंने संकल्प किया कि ईश्वर ने यदि मुझे और आयु दी तो मैं यात्रा करके संपूर्ण पृथ्वी का अवलोकन करूँगा और देवगण के प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ होऊँगा। मैंने देवगण से कहा—"भगवन्, मैंने पृथ्वी-पर्यटन नहीं किया। न मैंने तीर्थ-यात्रा ही

की है। इस गंगा-द्वार पर ही रह कर ईश्वर-भजन में समय बिताया है। यदि आज्ञा हो तो जाऊँ और यात्रा का अनुभव करके आपके चरणों में पृथ्वी के विषय का अधिक हाल सुनाऊँ।" देवदूत ने कहा—"अच्छा बाबा, जाइए। 'अंतेमतिः सा गतिः' जब तक आप अपने संकल्प को पूरा नहीं कर लेंगे, विश्राम नहीं पावेंगे।" यह दृश्य देख मैं समाधि छोड़ जागृत हुआ। अपने संकल्प का स्मरण होने से मैं आज इस श्रीकैलाश-नाथ के भवन का दर्शन करने आया हूँ। अब मैं संपूर्ण पृथ्वी की यात्रा करके फिर इस देह का त्याग करूँगा!" यात्री बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने महात्मा जी के चरण छुए और कहा—"धन्य हो महाराज! आपके दर्शनों से मेरी यात्रा सुफल हुई। मेरे सब श्रमों का अंत हो गया। अब मैं आपकी सेवा में रह कर आपकी टहल करूँगा और आपके उत्तर वय में मुझ से जो चाकरी बन पड़ेगी करता रहूँगा।"

विचार करने की बात है कि इन महात्मा जी के विचार के कितने लोग होंगे? कांचनजंघा की चोटी पर पहुँचने का सौभाग्य किसी को भले ही प्राप्त न हो तथापि अपने ही निकटस्थ स्थानों को जाकर देखने की जिज्ञासा से लोग यत्न करें तो कुछ कठिन बात नहीं है। यदि हिमालय पर्वत के प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन हों तो क्या ही आनंद की बात है। यही कारण है कि भारतवासी के लिये बदरीनारायण की यात्रा का पुण्य अद्वितीय लिखा है। 'जिसने कर ली बदरी,

उसकी काया सुधरी' यह लोकोक्ति सच है। उसी यात्री ने जिसका वर्णन ऊपर दिया है अपने देखे हुए हिमालय के दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—"मेरी आँखें अधिक वेग से खुल गईं। मैं कांचनजंघा की चोटी पर खड़ा सारे विश्व का दर्शन कर रहा था। दूरी मेरी दृष्टि की रोक करती परंतु मेरी कल्पना विशद हो गई। मेरी बुद्धि निर्मल हो गई। महात्माओं के दर्शनों से ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं, यह बात मेरे अनुभव में आ गई। जब मैंने अपनी दृष्टि फेरी तो अहा! क्या ही सुंदर दृश्य मुझे दिखाई दिया। मैंने आजन्म ऐसी सुषमा नहीं देखी थी। वह प्रातःकाल का समय था। क्या देखता हूँ कि—

"उन गिरिशिखरों पर बर्फ़ का जामा चढ़ा हुआ था। बाल सूर्य की किरणें उस पर पड़ कर परावर्तित होकर अजीब झिलमिलाहट पैदा कर रही थीं। संपूर्ण दृश्य जगत् सुवर्णमय दिखाई देता था और सारी सृष्टि उस अपने साक्षात् मित्र का जयजयकार मनाती हुई स्वागत करने के लिये उन्मुख दिखाई देती थी। यह अलौकिक दृश्य देख मेरे जी में एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इतनी विशाल विश्वव्यापिनी कारीगरी किसकी बनाई हुई है? पृथ्वी की ऊँची नीची टेकरियों में से इतने अनेक रूप रंग के शिखर किस विधाता की क़लम से चिकने और सुघर बनाए गए हैं? मेरे प्रश्न का उत्तर भी तुरंत मिला। जिस युवा, शक्तिमान् तेजस्वी ने यह रचना की

थी वह मूर्तिमान् पूर्व दिशा में उदय होकर क्रमशः ऊपर चला आ रहा था। जिन जलप्रपातों और प्रवाहों ने बड़ी बड़ी खोह और खद्दर खोद कर तैय्यार किए उनका पानी बहानेवाला यही हिरण्याक्ष है। इसीने गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार बड़ी बड़ी बर्फ़ के शिलोच्चयों को खींच कर पर्वत की खोहों में फेंका है और यही वह प्रवल कारीगर है जो उच्चतम गिरि-शिखिरों की उच्चता का अभिमान धोकर बहा ले जाता है और कालांतर में पर्वतों को सम भूमि बना देता है। यही उन पर्वतों को बहा कर समुद्र में बिछाता है और नए खंडों की उत्पत्ति का बीज बोता है और यही असंख्य वर्षों में भावी संतान को धवलागिरि पर्वत के पत्थरों की उर्बरा और उपजाऊ भूमि बना कर उस पर लहलहाते हुए हरे भरे खेत दिखलावेगा! मैं चकित हो गया और ईश्वर की अलौकिक विश्व रचना का विचार करके महात्माजी के पीछे पीछे चलता हुआ नीचे उतर आया।"

नदियों का इतिहास भी बड़ा मनोहर होना चाहिए। ऐसा इतिहास आज तक किसी ने लिखा नहीं है तथापि इस बात का पता लगता है कि सब ही नदियाँ पहले जिन पात्रों में से बहती थीं अब वे उन्हीं पात्रों में से नहीं बहतीं। प्रयाग में दारागंज और मुट्ठीगंज की विशाल रेती ने गंगा का प्रवाह कितना दूर हटा दिया है। भूगर्भ शास्त्र के पंडितों का मत है कि विंध्य पर्वत ही एक प्राचीन पर्वत था और उसके निकट-

पास बहुत सा धन, अधिकार और सब सुखों के साधन प्राप्त होने से हमारा जो गौरव है उसके द्वारा हम घोड़े, नौकर चाकर, क़ीमती वस्त्र इत्यादि ख़रीद सकते हैं, परंतु इस जीवन में अत्यंत मूल्यवान् और हितकारी मित्र रूपी वस्तु का संग्रह नहीं करते, यह कितनी नासमझी की बात है? अगर एक पशु मोल लेना हो तो हम बड़ी फ़िक्र के साथ उसके पहले के हाल, उसकी पुष्टता और स्वभाव की परीक्षा करते हैं परंतु जिस मित्र के समागम से हमारी जीवन यात्रा के कुछ न कुछ भले या बुरे होने की संभावना अवश्य रहती है उसका चुनाव केवल संयोग-वश ही कर लेते हैं।

"जिस समय हमें मनुष्य की आवश्यकता होती है उस समय को छोड़ अन्य समय में दूसरे का समीप होना हमें पसंद नहीं होता" यह बात सच है, क्योंकि सर्वदा दूसरों की संगति का मोहताज रहना अज्ञान की अवस्था का दर्शक है। जिन विचारशून्य लोगों को संतोषपूर्वक एकांत-वास करना नहीं आता उन्हें यदि दूसरों का संग न मिला तो वे कारागृह में रहने के समान दुखी होते हैं। परंतु जो लोग विचारवान् और उद्योगशील हैं वे अकेले में रहते हुए भी बहुजन समाज की भीड़ में रहनें के समान सुखी और आनंदमग्न रहते हैं।"

इमरसन का कथन है कि—"दो मनुष्यों के एकत्र होते ही उनका महत्व कम हो जाता है।" इसमें कुछ अर्थ दिखाई

नहीं देता। एक जगह उसी ने और भी कहा है कि—"जहाँ एक दूसरे का समागम हुआ कि वहाँ हर एक व्यक्ति के सुंदर गुणों का थोड़ा बहुत लोप होकर सुस्वभाव की मंजरी झड़ जाती है और परिमल नष्ट हो जाता है।" क्या यह बात सत्य हो सकती है? अगर है तो मित्रता से क्योंकर लाभ हो सकता है? हमारी समझ में मित्र-मिलन से इसके बिलकुल विरुद्ध परिमाण होता है। सुस्वभाव रूपी कोमल कमल संकुचित न होकर मित्र-संग के सुख से अधिक विकसित होता है और उसका रंग अधिक चटकदार हो जाता है।

किसी किसी का यह कहना है कि 'मित्र कभी न कभी शत्रु होगा और शत्रु मित्र होगा, यह समझ कर उनसे जितना उचित हो उतना ही बर्ताव रखना चाहिए।' इसमें पहली बात के विषय में किसी का कुछ भी मत हो परंतु दूसरे विधान में बहुत कुछ दूरदर्शिता और समंजसता है। कितने ही लोग मित्रों की प्राप्ति करने की अपेक्षा शत्रुओं से शत्रुता मिटाने में अधिक परिश्रम करते हैं और उसमें आनंद मानते हैं। पिथा-गोरस सब को यह उपदेश करता है कि "बहुत लोगों से मित्रता मत करो," परंतु यदि हम योग्य मनुष्य का स्नेह संपादन करने के काम में सावधान हैं तो इस उपदेश का कुछ भी महत्व नहीं रहता।

सहस सुहृद जो होइ तउ, एकहु तजत बनै न।
किंतु शत्रुजन एकहू, सालत हिय दिन रैन॥

सचमुच ही इस संसार में दुर्भाग्यवश उदारचित्त मित्र थोड़े हैं और एक भी क्षुद्र शत्रु हुआ तो वह हमारी हानि करने के लिये बली हो जाता है। यह बात नहीं है कि हम जिन जिन मनुष्यों से मिलते हैं वे सब ही स्वभावतः दुष्ट होते हैं या जान बूझ कर हमें कुमार्ग में लानेवाले होते हैं किंतु बात यह है कि वे लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि हम दूसरों से क्या बोलते हैं या क्या नहीं बोलते ? स्वयं अपने अंतःकरण की ओर ध्यान न देकर हमें वे योग्य शिक्षा नहीं देते। अपनी बोल चाल में लड़कपन की बातें और गप शप किया करते हैं। वे यह समझने का प्रयत्न ही नहीं करते कि यदि वे थोड़ा ही परिश्रम करें तो भी उनकी बातचीत थोथी न होकर बोध और आनंद-जनक हो सकती है अथवा नीरस और निष्फल न होगी।

हर एक मनुष्य से उसके योग्यतानुसार कुछ न कुछ शिक्षा प्राप्त होती ही है, केवल वह शिक्षा प्राप्त कर लेने की इच्छा मन में अवश्य होनी चाहिए। ऐसे सज्जनों ने चाहे बाह्य रूप में हमें कुछ न सिखाया हो तथापि वे अन्य रूप में हमें कुछ न कुछ सूचना दे ही देते हैं या स्नेहभाव के साथ हमारी सहायता करते ही हैं। अगर उन्होंने इन बातों में से कुछ भी न किया तो उनका समागम केवल समय खोना ही है। ऐसे लोगों की मित्रता तो क्या उनसे जान पहिचान भी न हो तो भला है।

अपने मित्रों और साथी संगियों का चुनाव जितनी बुद्धि-मानी और दूरदर्शिता के साथ हम करेंगे उतनी ही हमारी

जीवन-यात्रा सुखमय और सदाचारपूर्ण होगी। अगर हम दुर्जनों का संग करेंगे तो वे हमें खींच कर अपनी नीचता तक पहुँचा देंगे। सज्जनों का संग करने से वे सर्वथा हमारा उत्कर्ष ही करेंगे।

गुणी जनन के संग में, लहत बड़ाई नीच।
सुमन संग ज्यों चढ़त है, सूत देहरा बीच ॥

मित्र-संग्रह के विषय में बहुधा लोग नदी नाव संयोग की प्रथा पर चलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जो कोई हमें मिल जाय उसके साथ सुजनता और सभ्यता के साथ बर्ताव करना हितकारी है परंतु सब ही को सच्चा मित्र समझ लेना उचित नहीं है। कोई हमारे पड़ोस में रहता है, कोई व्यवसायी है अथवा कोई प्रवास का साथी है तो केवल ऐसे क्षुद्र कारण वश उसे अपना मित्र कहना बड़ी भूल है। प्लूटार्क का कथन है कि—"ये सब मित्रता की प्रतिमा और खिलौने हैं," सच्चे मित्र नहीं।

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यंतरंगं स स्नेह इति कथ्यते॥

—सुभाषित।

अर्थात्—जहाँ दरस, परस, श्रवण वा कथन से अंतःकरण द्रवीभूत हो जाता है, वही स्नेह है।

अपना शत्रु कितना ही क्षुद्र क्यों न हो वह बड़ी से बड़ी हानि पहुँचा सकता है। उसी तरह जिसने दूसरे पर प्रेम किया

है उसी के हृदय में सबके लिये प्रेम उपजेगा, ये दोनों बातें चिंतनीय हैं। हर एक व्यक्ति में कुछ न कुछ गुण अवश्य होता है। नास्मिथ ने लिखा है कि—"मैंने लोगों को यह कहते हुए सुना है कि यह जगत् स्वार्थ और कृतघ्नता से भरा है; परंतु मेरे अनुभव में यह बात नहीं आई। यह कदाचित् मेरा सुदैव होगा।" विचार करके देखा जाय तो बहुधा यही अनुभव औरों को भी होगा।

इमरसन की उक्ति है कि—"इस संसार में हम अकेले हैं। जो लोग यह कहा करते हैं कि इस लोक में हमें अपने मनभावन मित्र मिलेंगे वे मानों स्वप्न देखते हैं। अपने पर प्रेम करनेवाले और अपनी प्रीतिपात्र जो आत्माएँ हैं वे सांप्रत परलोक में निवास करती हैं, यह आशा करते हुए हमें अपने हृदय को शांति देनी चाहिए।"

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानंदनं चेतसः।
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सहभवेन्मित्रेण तत् दुर्लभं॥

—हितोपदेश।

भावार्थ—मित्र नयनों के लिये आनंददायक प्रीति रसायन है, अंतःकरण को आह्लाद देनेवाली वस्तु है; पर जो सुख और दुःख में एक सा साथ देवे ऐसा मित्र विरला होता है।

मित्रों के समागम में हम अपना जीवन सुख और आनंद में व्यतीत करते हैं, इस विषय में एक मत है इसमें संदेह नहीं,

तथापि इस पर सर्वथा अवलंब करते नहीं बनता। सच पूछिए तो—

"आत्मैव आत्मनो बंधुः, आत्मैव रिपुरात्मनः।"

हम आप ही अपने मित्र हैं और आप ही अपने शत्रु भी हैं; यही विश्वास करके बर्तना चाहिए।

"इस जगत् में सच्ची मैत्री नहीं है और समान स्थिति के लोगों में जो मैत्री दिखाई देती है उसका मूल्य असलियत से ज्यादा समझने की रीति पड़ गई है। अगर सच्ची मैत्री कहीं हो भी तो ऐसे उच्च नीच स्थिति के मनुष्यों में होगी जिसमें एक के वश में दूसरा रहे।" यह बात जो बेकन ने कही है उसके विरुद्ध यह भी कहा है कि—

"हमारा यदि कोई सच्चा मित्र न हो तो यह जगत् निर्जन वन के समान प्रतीत होगा और हमारा जीवन एकांतवास में व्यतीत होने के कारण दुःखदाई होगा। परंतु जब अपनी चित्तवृत्ति और विचारों में उधेड़ बुन होने लगती है उस समय मन किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है और हम अँधेरे में जिस प्रकार टटोल टटोल कर चलते हैं उसी तरह बर्ताव में भी चलते हैं। उस समय मित्रों के समागम से हमें उजेला मिल कर सीधा मार्ग दिखाई पड़ने लगता है और विपत्ति के समय हमारा मन प्रसन्न रहता है। उनके साथ वार्तालाप करने से अपने विचार एक से जारी रह कर योग्य प्रणाली मिलती है। वे विचार अगर लिखे जाँय तो कैसे होंगे, यह

मालूम हो जाता है और अपने आप उनको मनन करने से जितना ज्ञान होता है उतना ज्ञान मित्रों के साथ एक घड़ी भर वार्तालाप करने से हो जाता है और हम अधिकाधिक चतुर और बुद्धिमान् बनते चले जाते हैं।"

मित्रों के साथ निरर्थक विषयों पर वार्तालाप नहीं करना चाहिए। इसके बारे में इपिक्टेटस ऐसा उपदेश करते हैं कि–"घोड़े, कुत्ते, कसरत, खाना पीना इत्यादि क्षुद्र विषयों पर बातचीत न करो। परनिंदा अथवा स्तुतिपाठ न करो।" मार्कस आरीलियस ने कहा है—"जिस समय तुम्हें अपना मनोरंजन करना हो उस समय अपने सहवास में रहनेवालों के सद्गुणों का चिंतन करो। वह तीक्ष्ण बुद्धिवाला है, वह सभ्य आचारवाला है, वह उदार हृदय है, इस पर ध्यान दो। इसका कारण यह है कि जो लोग अपने संग रह कर हमेशा आँखों के सामने आते हैं उनके अच्छे गुणों का आदर्श सम्मुख रख कर उसका अनुसरण करने में जो आनंद होता है उसके समान किसी और तरह से नहीं होता।" परंतु इसके अनुसार बर्ताव करते नहीं बनता। जिन्हें हम अपना मित्र समझते हैं, उनके चेहरे तथा भाषा ही का हमें परिचय होता है किंतु उनके मन और सद्गुण का हमें बहुधा ज्ञान ही नहीं होता।

जितनी चिंता करके हम मित्र प्राप्त करते हैं उतनी ही चिंता के साथ जुड़ी हुई मित्रता की रक्षा करनी चाहिए।

प्रास्कल का कहना है—"एक दूसरे के पश्चात् उसके विषय में क्या कहता है, यह अगर सबों को मालूम हो जाय तो संसार में चार मित्रों का भी मिलना कठिन होगा।" यह कदाचित् व्यंग्य की उक्ति हो तथापि उन चारों में से स्वयं एक होने की इच्छा रक्खो। जिस किसी को तुमने एक बार मित्र कहा उसकी रक्षा करो, सदा उससे मिलने जाओ, क्योंकि जिस मार्ग से कभी कोई जाता आता नहीं है उसमें घास और काँटे पैदा होकर उस मार्ग का नाम निशान तक नहीं रहता। उसी तरह अपने मित्रों के पास जाने आने से, उनसे मिलने मिलाने से प्रीति क़ायम न रक्खी जाय तो वह नष्ट हो जाती है। आज यहाँ तो कल वहाँ, इस प्रकार का अस्थिर प्रेम व्यर्थ है।

ऐसा बर्ताव करने का किसी को अधिकार नहीं है जिसमें मित्रता के नाते किसी को ज़रा भी असंतोष पैदा हो जाय। कई लोग ऐसे होते हैं कि जब तक उनके मित्रों की मित्रता नष्ट होकर वे मित्र ही नहीं रह जाते तब तक उनकी असली योग्यता का ज्ञान उन्हें नहीं होता। ऐसे मित्रों का उनके पश्चात् सम्मान करना निष्फल है। "मृत मनुष्य के आदर के हेतु उसके लिये बड़ी क़ीमती छतरी बनाई जाय तो पत्थर चूने में धन का व्यय करने के सिवा और क्या लाभ होगा ?"

"अपने मृत मित्र की चिता के पास खड़ा रह कर जो

मनुष्य उसके समागम-सुख का विचार करेगा और यह देखेगा कि अब मैं प्रेमाकुल होकर चाहे जितना रोऊँ पर अपने मित्र की स्तब्ध नाड़ी को सचेत नहीं कर सकता या उसकी काया से जुदा हो जानेवाली आत्मा के सामने मैं दिए हुए दुःख का पश्चात्ताप करके क्षमा नहीं माँग सकता तो वह निश्चय कर लेगा कि अपने मित्र को इस प्रकार का मर्मभेदी दुःख देने का पातक मैं न करूँगा।"

मृत्यु से मित्रता का नाश नहीं होता। सिसिरो ने लिखा है कि–"अपने मित्र चाहे दूर भी हों तथापि वे निकट ही रहने के समान हैं। वे विपद्ग्रस्त हों तो भी संपत्तिमान् हैं। शक्तिहीन हों तो भी सामर्थ्यवान् हैं और मृत हों तो भी जीवित हैं।" यह कहना बहुतेरों को पहेली की तरह कठिन मालूम होगा परंतु जिस महात्मा ने ये विचार कहे हैं उसी ने इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है। "सीपिओ यद्यपि मृत हो गया है तथापि वह मेरे लिये जीवित है और सर्वदा वह जीवित ही रहेगा, क्योंकि उसके सद्गुण मुझे अत्यंत प्रिय हैं और उसकी श्रेष्ठता अभी तक नष्ट नहीं हुई। मेरे भाग्य से और कालवश जो बड़प्पन मुझे प्राप्त हुआ है वह सीपिओ की मैत्री की तौल में पसंगे के लिये भी पूरा नहीं है।"

यदि हम अपने मित्रों का चुनाव उनकी संपत्ति की तरफ़ न देख कर उनकी योग्यता की तरफ़ देख कर करें और यदि हम मित्रलाभ के, जो संसार में एक पुरस्कार है, उपयुक्त

पात्र हों तो हमें उनके समागम का सुख सर्वदा मिलेगा। वे दूर हों तो भी निकट के तुल्य होंगे और उनके इस लोक से चले जाने पर भी उनका सुखकर स्मरण हमें रहेगा।



६—समय का मूल्य।

सुखों के सब साधनों का महत्व समय पर अवलंबित है। मित्र, ग्रंथ, आरोग्यता, यात्रा या घर इत्यादि से मिलनेवाले सुखों का आनंद उठाने के लिये अगर हमें समय ही न हो तो उनका क्या उपयोग होगा? लोग कहते हैं कि 'समय ही धन है' किंतु 'समय हमारा प्राण है'—यह भी कहा जाय तो अयोग्य न होगा। तथापि जो लोग प्राणों की रक्षा के लिये जी तोड़ यत्न करते हैं उन्हें समय व्यर्थ गँवाने का कुछ भी विचार नहीं होता।

किसी ने कहा है–

"गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।"

"जो अत्यंत ज्ञानवान् है उसे व्यर्थ समय बीतने से बड़ा दुःख होता है।" यह दांते का कथन है। इसलिये शारीरिक कष्ट बढ़ाने में अपना समय बीते, यह इच्छा न करनी चाहिए। यदि समय निर्दोष और सर्वमान्य सुखोपभोग में, आरोग्यजनक खेलों में अथवा मित्र और कुटुंबियों के समागम में व्यतीत किया जाय तो समझना चाहिए कि उसका अच्छा व्यय हुआ। भिन्न भिन्न खेल कूद से शरीर सुदृढ़ और नीरोग बन कर हाथ पैर इत्यादि अंग बोझल नहीं होते और अपने इच्छानुसार काम करने के लिये फुर्तीले रहते हैं, यह

कुछ कम लाभ नहीं है। दूसरे अच्छी कसरत की जाय तो कई प्रकार के कुव्यसनों को दबा लेने की शक्ति अपने शरीर में पैदा हो जाती है।

हमें इच्छित कार्य करने के लिये समय न मिलने की शिकायत करने का कुछ मतलब नहीं मालूम होता। सच पूछिए तो किसी काम के करने का सच्चा संकल्प कर लिया जाय तो उसके लिये समय पैदा किया जा सकता है, क्योंकि उद्योग करने की इच्छा होने पर समय की कमी कभी नहीं होगी। विश्राम के लिये हम कुछ समय आलस्य में गँवा देते हैं, इसलिये विश्राम की आवश्यकता भले ही न मानी जाय परंतु विश्राम लेने से अपने इच्छित और प्रिय कार्य करने के लिये अधिक उत्साह प्राप्त होता है, इस कारण विश्राम की उपयोगिता मानी जाती है।

शेक्सपियर ने कहा है—"जुदा जुदा प्रकार के मनुष्यों के साथ जुदा जुदा चाल से समय दौड़ता चला जा रहा है। हम कह सकते हैं कि किसी के साथ सर्पट तो किसी के साथ दुलकी और किसी के साथ चौकड़ी भरता है तो किसी के पास निश्चल खड़ा रहता है, क्योंकि समय की नाप घड़ी पर न होकर उसके सदुपयोग पर अवलंबित होती है।"

इस संसार में आलसी मनुष्य के बराबर फ़जूल खर्च कोई नहीं। इसी समय जिस घड़ी का उपयोग किया जाय वह अमोल हो जाती है और एक बार जो घड़ी हाथ से

निकल गई फिर वह किसी यत्न से भी कहीं लौटती, उस घड़ी को आलसी फेंक देता है।

आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।

अर्थात्—आलस्य मनुष्य के शरीर में रहनेवाला उसका बड़ा शत्रु है।

आलस लूटि उदारता, तुरत कृपन करि देत।
आलस जतन डुबाइ कै, साहस को हरि लेत ॥ १ ॥
आलस है दारिद्य घर, दुख कंटक का मूल।
करै भिखारी नित्य अरु, उर उपजावै सूल ॥ २ ॥

—श्रीसमर्थ रामदास।

बुद्धिमान लोग आयु की गणना बरस या महीनों द्वारा नहीं करते। आयु यद्यपि छोटी है तो भी उसी थोड़े अवसर में बहुत शौर्य, विचार और परोपकार करके उसे तनिक भी व्यर्थ न जाने देने को ही बड़ी उम्र समझना चाहिए।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः ॥—मनु।

अर्थात्—केवल बालों के सफ़ेद हो जाने से मनुष्य वृद्ध नहीं होता, जो मनुष्य कृतविद्य हैं वह चाहे कम उम्र का हीं हो तथापि उसे देव भी वृद्ध कहते हैं।

पीटर के शब्द हैं कि "अपने इस विचित्र और सुंदर जीवन के दिन इतने थोड़े हैं कि अपनी उँगलियों पर गिने जाँय। इस थोड़े समय में खाने, सोने और विषयेच्छा की तृप्ति या

पूर्त्ति होने पर परोकार, ज्ञान, उत्साह इत्यादि जो अपनी सात्विक बुद्धि ही के कारण होनेवाले कार्य हैं उन्हें प्राप्त करने के लिये समय कैसे मिल सकता है?" इस जीवनयात्रा के अनेक कार्य एक के बाद एक पूरे होकर हमारे उन्नत और सत्य संबंधी विषय और उत्तम आचार पर जो हमारे जन्म के सच्चे हेतु हैं सदा हमारी दृष्टि किस प्रकार रहेगी? सचमुच देखा जाय तो निर्मल रत्न के समान स्वयं सतेज रह कर औरों को प्रकाशित करनेवाली आनंदमय जीवनयात्रा यदि बन पड़े तो यही जन्म की सफलता है।

इस संसार की परिपाटी एकसी चली जाती है। उसकी लकीर पर पशु पक्षी अथवा अज्ञान लोगों के समान "गतानुगतिको लोको" इस नियम के अनुसार जीवन व्यतीत करने में तुम को सार्थक्य नहीं है। अपनी आँखों के सामने सब कुछ नष्ट हो रहा है, उसी में कभी हमारे उत्साहित होने के कारण मनुष्य मात्र के ज्ञान भांडार में हमारे हाथ से कुछ अधिक पूर्ति हुई और उसके कारण खाने पीने और सोने के बंधनों से मनुष्य का मन मुक्त होकर एक पल भर भी उन्नति की स्थिति को पहुँचे तो इस जन्म की सफलता समझनी चाहिए।

चेस्टरफील्ड ने अपने लड़के को जो उपदेश दिया है वह सर्वथा अनुसरण करने योग्य तो नहीं है तथापि समय के विषय में जो विचार उसने प्रगट किए हैं वे बहुत बुद्धिमानी

के हैं। उसने कहा है—"ऐ भाई, जितना समय तुमने व्यर्थ गँवा दिया उतने ही में तुम अपने लाभ से वंचित रहे। जितने समय का तुमने अच्छा उपयोग किया उतना तुमने अपना धन समंजसता से व्याज पर लगा दिया। इस छोटी आयु की एक घड़ी भी केवल आलस्य में गँवाना बड़े आश्चर्य की बात है। इससे समय के मूल्य का विचार करो और जो घड़ी प्राप्त हो उसे व्यर्थ न जाने दो बल्कि उसका अच्छा उपयोग करो।"

> यो हि कालो व्यतिक्रामेत्पुरुषं कालकांक्षिणं।
> दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्म चिकीर्षुणा॥

भावार्थ–जो मनुष्य किसी काम के करने के लिये उत्तम समय की इच्छा करता हुआ उस समय के प्राप्त होने पर उसे हाथ से जाने देता है उसे उस काम के करने के लिये वैसा समय फिर हाथ नहीं आता।

तुर्किस्तान के लोगों में एक कहावत प्रसिद्ध है कि शैतान आलसी आदमी को अपने पंजे में लाने के लिये हमेशा उसे भूल में डालता है, परंतु आलसी मनुष्य स्वयं शैतान पर अपना अधिकार जमा लेता है। "मछली पकड़नेवाले के समान शैतान अपने काँटे में लोगों की रुचि के अनुसार आमिष लगा कर उन्हें पकड़ता है परंतु आलसियों को पकड़ने में उसे किंचित् भी श्रम नहीं पड़ता। वे स्वयं अपना गला काँटे में फँसा देते हैं।" आलसी मनुष्य अपने मन को चक्की

की तरह पीसता है; अगर चक्की में अनाज डाला तो वह उसे पीस कर रख देती है परंतु अनाज न डाला तो वह घूम कर अपने आपको पीस डालती है। "कल की चिंता मत कर" यह सलाह देनेवाले ने यही मान लिया होगा कि मनुष्य चिंता से हतोत्साहित होता है, उद्योग से नहीं।

न समुद्यमसमो बंधुः कुर्वाणो नावसीदति।"

—भर्तृहरि।

अर्थ—उद्योग के समान कोई हितू नहीं क्योंकि उद्यम करनेवाला दुःख नहीं पाता।

जंगल में फूल किस प्रकार पैदा होते हैं, इस पर विचार करो। वे श्रम नहीं करते परंतु उनकी सुंदरता के बराबर इंद्र के वस्त्रों की भी सुंदरता नहीं होगी। जो आज है और कल जलाने के काम आता है, ऐसे घास पात के लिये भी ईश्वर ने ऐसा सुंदर रंग दिया है तो कमसमझ लोगो! क्या वही ईश्वर तुम्हें वस्त्र आच्छादन न देगा?

येन शुक्लीकृता हंसा, शुकाश्च हरिती कृताः।
मयूराश्चित्रिताः येन स ते वृत्ति विधास्यति॥

—हितोपदेश।

अर्थ—जिसने हंस का रंग सफ़ेद, सुग्गे का हरा और मोर का चित्र विचित्र बनाया है वही तेरे निर्वाह की तजबीज़ करेगा।

परंतु भाइयो! तुम्हें उद्यम करना चाहिए। जंगल के

साँप के दाँतों में ज़हर कैसे भरा गया ? ये बातें अगर तुम्हारी समझ में नहीं आती हैं तो तुम उदास और खिन्न होकर क्यों रहते हो ? जब तक पृथ्वी, अप, तेज, वायु तुम्हारे लिये गूढ़ हैं और जिस चीज़ को तुम छूते हो उसके तत्व को तुम जान नहीं सकते तब तक मुझ से दिल खोल कर बोलो, मुझे समझ लो, मुझे अपनाओ और मेरे आशीर्वाद लो, यह कहती हुई प्रकृति, सृष्टि देवी तुम्हें आदर से बुलाती है तो फिर तुम उदास और हतोत्साह और आलसी क्यों रहते हो ? तुम्हें धिक्कार है ! कुछ सीखो, कुछ करो, कुछ समझ लो और अपनी उदासीनता का मेरे सामने नाम तक मत लो !"

७—यात्रा-सुख ।

देशे देशे किमपि कौतकादद्भुतं लोकमानाः
स्थाने स्थाने कृतपरिचयाः सद्य भूयोऽप्यवाप्य ।
संयुज्यंते सुचिर विरहोत्कंठिताभिः सतीभिः
सौख्यं धन्या किमपि दधते सर्वसंपत्समृद्धाः ॥

भाव—जो लोग देश देशांतरों में जा कर वहाँ अद्भुत चमत्कार देखते हैं और स्थान स्थान के लोगों से परिचय करते हुए लौट कर वियोग से उत्कंठित अपनी भार्या पुत्रादि लोगों से मिलते हैं, वे लोग धन्य हैं। वे संपत्तिमान् और समृद्धि से पूर्ण होकर अकथनीय सुखों का लाभ करते हैं।

आज कल के समय में यात्रा करना जितना सुगम हो गया है उतना पूर्व काल में नहीं था। भारतवर्ष में रेल, जहाज़, मोटर, साइकिल इत्यादि शीघ्रगमन के उपकरण प्राप्त होने के पहले यात्रियों को बड़ी बड़ी आपत्तियों का सामना करना पड़ता था। प्रथम तो आगरा बंबई रोड जैसे राज-मार्ग नहीं बने थे। मार्ग अत्यंत कठिन थे। चोर और लुटेरों का पद पद पर भय उपस्थित था और एक स्थान से दूसरे स्थान जाने में महीनों और कभी कभी बरसों का समय लग जाता था। यात्री लोग जत्था बाँध कर चलते और मार्ग की अपरिहार्य कठिनाइयाँ झेलते हुए यात्रा करते थे। बहुतेरे इस कष्टमय यात्रा

के मार्ग ही में इस लोक की यात्रा समाप्त कर देते थे और यदि कोई हरिद्वार या बदरीनारायण होकर लौट आता तो उसका पुनर्जन्म समझा जाता था। उसके स्वागत का उत्सव मनाया जाता था और गंग-भोज जैसे बड़े बड़े समारोहों में लोग कितना ही धन खर्च करते थे। यात्रा के लिये प्रस्थान करते समय आप्त बंधु लोग मिलने आते थे और फिर मिलेंगे या नहीं, इस आशंका से जुदाई के दुःख से परम व्याकुल हो जाते थे। यही कारण है कि भर्तृहरि ने सुख की व्याख्या प्रवास में न जाने से की है—'किं सुखं प्रवासगमनं।' घर में रह कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही सुख की परमावधि समझी जाती थी। परंतु आज कल सब कुछ बदल गया है।

प्राचीन समय की पादचारी यात्रा में कष्ट तो अवश्य होते थे परंतु कुछ लाभ भी थे। यात्री अपने मार्ग में पड़नेवाले तीर्थों और नगर, पर्वत, नदियाँ इत्यादि रमणीय स्थानों का सम्यक् रूप से दर्शन करते थे, वहाँ के लोगों से मिल कर उनके स्वभाव और रीति रिवाजों का निरीक्षण करते थे और फिर आगे चलते थे। मार्ग में मिलनेवाले प्राकृतिक दृश्यों के देखने से उनकी कल्पना विशाल और ईश्वर की अगाध और गंभीर लीला का धार्मिक भाव उनके हृदयों में अधिक होता था और उन हृदयग्राही दृश्यों के दर्शन का उनके पवित्र और स्वच्छ अंतःकरणों पर ऐसा विमल प्रभाव दृढ़तर रीति से पड़ता था कि यात्रा करके जब वे लोग लौट कर घर पहुँचते तो अपनी

अनुभूत भावनाओं के वर्णनों से सुननेवालों के मन लुभा लेते थे और वे आश्चर्य और आनंद में निमग्न हो जाते थे। परंतु आज कल की रेलगाड़ी की यात्रा करना मानो भागते जाना है। मार्ग के दृश्य धूप छाँह की तरह दीखते हैं और देखते देखते लोप हो जाते हैं। यदि कोई तीर्थ या नगर मार्ग में आ जाय तो उसके रेलवे स्टेशन के तो अलबत्ता दर्शन हो जाते हैं परंतु भीतरी दर्शनीय स्थलों का आनंद प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिलता। यदि यात्री अंग्रेजी पढ़ा हो तो रेलमार्गदर्शक पुस्तक की एक प्रति ख़रीद कर उस नगर के दर्शनीय स्थलों का अपूर्ण वर्णन पढ़ कर किंचित् परिचय मात्र कर सकता है। लंबी यात्रा में रेल में बैठे बैठे यात्री उकता जाता है। उसे अनेक प्रकार की असुविधाएँ और कभी कभी अपमान तक सहना पड़ता है। केवल समय की बचत और शीघ्र गमन की सुविधा के हेतु यात्री को, विशेषतः धनहीन यात्री को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

यद्यपि भारतवर्ष में रेल-मार्ग से यात्रा करना कुछ सुख की बात नहीं है तथापि उसके बदले लाभ भी कुछ थोड़े नहीं हैं। समय की बचत एक प्रथम लाभ है, परंतु आम तौर पर लोग इस बचत का योग्य उपयोग नहीं करते क्योंकि वे अन्य प्रकार से अपने समय को व्यर्थ खोते रहते हैं। दूसरा लाभ आराम है। आराम से एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। तीसरा लाभ दूर देशों में जाना सहल हो गया है। जो

लोग बंबई या कलकत्ते की एक बार भी सैर कर आए होंगे उन्हें ज्ञात होगा कि उन नगरों में देश देशांतर के कितने लोग बसते हैं। जहाज़ों में इंगलैंड या जापान तथा अमेरिका जाना कितना सुलभ हो गया है। अन्य देशों से माल लाना ले जाना कितनी मामूली बात हो गई है। यहाँ तक कि सभ्यता के साथ साथ शीघ्र-गमन के साधनों की आवश्यकता अपरिहार्य हो गई है। रेल में से भी लोग यदि उनके आँखें हैं और उनमें निरीक्षण करने की बुद्धि है तो प्राकृतिक दृश्यों को देख कर आनंद उठा सकते हैं। परंतु यदि कोई देखे ही नहीं तो उसके लिये क्या कहा जाय? मूर्ख लोग प्रवास नहीं करते किंतु भट-कते फिरते हैं और बुद्धिमान् लोग ज्ञान प्राप्त करते चले जाते हैं। कारण इतना ही है कि—

वदन श्रवन दृग नासिका, सब ही के इक ठौर।
कहिबो, सुनिबो, देखिबो, चतुरन को कछु और॥

बेकन ने बतलाया है कि यात्री को परदेश में जाकर किन किन वस्तुओं को देखना चाहिए? "वे शाही दरबार जो पर-कीय राष्ट्रों के प्रतिनिधि लोगों की भेंट करने के लिये किए जाते हैं, ऐसे न्याय-मंदिर जहाँ न्याय देवता अपने समतोल काँटे से न्याय समसमान करके दे रहे हैं, बड़ी बड़ी प्राचीन और आधुनिक धर्म-सभाओं की इमारतें और मठ, देवताओं के विशाल मंदिर, पूर्व पुरुषों के स्मारकस्वरूप समाधि और छत्रियाँ, शहर के गिर्द घिरे हुए नगरकोट अथवा शहरपनाह,

बड़े बड़े दुर्भेद्य क़िले, जहाज़ ठहरने के बड़े बड़े बंदरगाह, पुरानी इमारतों के बचे खुचे खँडहर, पुस्तकालय, विद्यालय, सभा और व्याख्यान गृह, व्यापार करनेवाले जहाजों के बेड़े, बड़े बड़े प्रासाद और राजभवन, शहरों के बाहर राजोद्यान और विश्राम स्थल, शस्त्रागार, बारूद गोली के भांडार, उद्यमी और मज़दूर लोगों के काम करने के स्थान, जहाँ नित्य लाखों रुपए का लेन देन होता है ऐसे बाज़ार और मंडियाँ, अश्व-शाला, क्रीड़ा-भवन और सैनिक शिक्षा के स्थान, जिन नाटक-घरों में ऊँचे दर्जे के लोग जाते हैं ऐसे नाटकगृह, रत्न और अमूल्य ख़िलत से भरे हुए तोशेख़ाने, अजायबघर इत्यादि इत्यादि वस्तुओं का दर्शन प्रवासी को करना उचित है।"

किसी किसी का वक्तव्य होगा कि इतनी चीजें देखने में समय लगेगा और कभी कभी इन वस्तुओं के देखने के कारण हमारी यात्रा भी नहीं होती। एक ही ठौर कुछ समय तक ठहरने का विचार किया जाय तो उक्त सिफ़ारिश के अनुसार कार्य्य हो सकता है। परंतु हमारी यात्राओं का हेतु एक ही नहीं होता। महीनों काम करने के श्रमों के पश्चात् जो छुट्टी हमें मिलती है उसमें विश्राम और आरोग्य पाने के हेतु अथवा स्थानांतर करके व्यायाम प्राप्ति के हेतु हम यात्रा करते हैं। ऐसे समय में किसी अन्य नगर की उक्त दर्शनीय वस्तुओं के देखने का हमारा हेतु ही नहीं होता। मान लिया जाय कि हर एक का यात्रा करने का एक ही उद्देश्य नहीं

होता तो भी जिसे ईश्वर ने आँखें दी हैं, उसे ज्ञान और आरोग्य दोनों का लाभ एक ही समय में प्राप्त करने के लिये रोक नहीं हो सकती। यद्यपि भिन्न भिन्न स्थानों के रमणीय और चित्र खड़ा कर देनेवाले हृदयग्राही वर्णन भी हम पढ़ चुके हों अथवा सुन चुके हों तथापि उन स्थानों को अपनी आँखों देखने में जो बातें हमने वर्णनों में अथवा चित्रों में नहीं देख पाई थीं उनको देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त होता है। आगरे के ताज के चित्र हमने देखे हैं और पुस्तकों में वर्णन भी पढ़े हैं, उसका वर्णन करने की आवश्यता हो तो हम अपने प्राप्त साहित्य द्वारा सब गुणों का वर्णन भी कर सकते हैं। चित्र को देख उसकी विशालता की जो कल्पना हम करते हैं अथवा उसका रंग और आकार अपनी कल्पना में चित्रित करते हैं वे कुछ उस ताज के असल रूप से बहुत भिन्न नहीं होंगे। परंतु जब हम ताज का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं तो उस अद्वितीत, सुंदर, रमणीय, शांत भवन को देख कर हमारी यह धारणा अवश्य होती है कि हमारी कल्पना केवल छाया मात्र थी, प्रत्यक्ष दर्शन से उस निर्जीव छाया में सजीवता और सत्यता का संचार हो जाता है और हमारा आनंद अकथनीय हो जाता है।

यह बात प्रत्यक्ष ही है कि अपनी आँखों देखे हुए रमणीय पदार्थों के दर्शनसुख की बराबरी चित्रों के देखने से प्राप्त होनेवाले आनंद से कदापि नहीं हो सकती। तथापि यह

कहना उचित न होगा कि चित्रों का कुछ भी उपयोग नहीं है क्योंकि जिसके पास इतना धन नहीं है कि वह भारतवर्ष के नगरों में उत्तम नगर जयपुर का दर्शन करे अथवा आगरे का ताज देखने जा सके परंतु उसे यह लालसा है कि यह बात घर बैठे ही मालूम हो सके कि उन स्थानों की रचना कैसी होगी, रूप रंग कैसा होगा, शोभा कैसी होगी, तो बड़ा सुख हो। ऐसे लोगों के लिये चित्रपटों से किंचित् ज्ञान और मनोरंजन होने में सहायता मिलती है; और यदि उन्होंने पहले वे स्थान देखे हों और उनके ही चित्र उन्हें देखने का अवसर मिले तो अपने दृष्ट पदार्थों की स्मृति ताज़ी करके वे असीम आनंद का लाभ उठाते हैं।

जिस सुंदर भारत भूमि में हम आप सब लोगों ने जन्म लिया है उसका पूरा वृत्तांत हम में से बहुत ही थोड़े लोगों को ज्ञात होगा। यह एक विचित्र भूमि है। यहाँ सौंदर्य देवी का अवतार हर एक खंड में हुआ है। एक दिन एक यात्री हिमालय पर्वत की उच्चतम चोटी, कांचनजंघा तक पहुँच गया। वहाँ उसने एक महात्मा को देखा। उन्हें उस स्थान में देख यात्री को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि महात्मा जी अत्यंत वयोवृद्ध थे उनके शरीर की हर एक पसली और नाड़ी जुदा दिखाती थीं। वे "कृशता तपस्विनः" के मूर्तिमान अवतार थे। केश उनके बर्फ की शोभा को लजाते थे। शरीर कुछ झुका हुआ था। हाथ में एक बड़ी लकड़ी सहारे के लिये विराजती थी।

वर्ती प्रदेशों का जल नर्मदा नदी में आ मिलता था। परंतु बीच में भूगर्भ में हलचल होकर दक्षिण की ओर एक पर्वतश्रेणी जिसकी सात मालिकाएँ हैं उठ आई और उसने नर्मदा नदी के जल-संग्रह के विस्तार को विभाजित कर दिया। यह नई पर्वत-श्रेणी सतपुड़ा पर्वत बन गया और वारि-प्रवाह ताप्ती नदी के रूप में बह निकला। बहुत प्राचीन समय से विवाह के समय मंगल के जो श्लोक पंडित लोग पढ़ते हैं उस में भारतवर्ष की सब महानदियों का नाम दिया है परंतु उसमें ताप्ती का नाम नहीं है। वह श्लोल इस प्रकार है-

गंगा, सिंधु सरस्वती च यमुना, गोदावरी, नर्मदा।
कावेरी, सरयू, महेंद्रतनया, चर्मण्वती, वेदिका।
क्षिप्रा, वेत्रवती, महासुर नदी, ख्याता तथा गंडकी
पूर्णा, पूर्णजलौर्विवाह समये कुर्यात्सदा मंगलं॥ १॥

इनमें महेंद्रतनया ब्रह्मपुत्रा है। चर्मण्वती चंबल है जो ग्वालियर राज्य की उत्तर सीमा है। वेदिका अर्थात वेदा नदी हुल्कर राज्य के कसरावद परगने में नर्मदा में गिरती है। क्षिप्रा उज्जैन में है। वेत्रवती अर्थात् बेतवा वह है जिस पर भेलसा बसा हुआ है। महासुर नदी वह है जिसे महानदी कहते हैं, यह संबलपुर ज़िले में बहती है। पूर्णा ताप्ती की सहायक नदी खानदेश में है। ताप्ती की सहायक नदी तक का नाम दिया है और ताप्ती का नाम नहीं है। इससे यही अनुमान होता है कि जब यह श्लोक बना था तब ताप्ती का उद्गम नहीं हुआ था।

जर्मनी की राइन और स्विट्ज़रलैंड की राइन नदी में अब कुछ भी साम्य नहीं रहा। शापहसेन में जो बड़ा भूडोल हुआ उसने इस नदी का स्वरूप बिलकुल बदल दिया। इस नदी का पानी पर्वत की ऊँची चट्टान से नीचे गिरने से पहले जहाँ अत्यंत वेग से बहता है उस उत्तर किनारे पर एक घड़ी भर जाकर खड़े रहिए, वहाँ आप देखेंगे कि पानी ने मोड़ खाकर एक सुंदर कमान बनाई है, उसमें कहीं भी दोष अथवा टेढ़ा या बाँकापन नहीं है। फिर वह पानी जिस करारे से नीचे गिरता है उस धनुषाकार करारे पर ३० फुट ऊँचे स्फटिक के गुंबज की भाँति पानी का स्फटिक सा गोल आकार बन जाता है और जल के प्रवाह की गति इतनी तेज़ होती है कि वह गुंबज स्थिर रूप में मालूम होता है। हाँ, केवल पानी के फेर का चमकता हुआ पुंज जिस समय आकाश से गिरती हुई प्रकाशमय उल्का की भाँति उस गुंज की चोटी से बड़े वेग से वारि-प्रवाह के साथ गिरता है तब मालूम होता है कि पानी स्थिर नहीं है, प्रचंड वेग के कारण स्थिर रूप दिखाई देता है। बीच ही में एक फ़व्वारा सा उठ कर अपने उज्ज्वल तेज से हमारी आँखों को चौंधिया देता है। पल भर में वह अदृश्य हो जाता है और अपने गिर्द के आकाश में अपनी प्रभा मात्र छोड़ जाता है। प्रपात के नीचे मानों चूर चूर हुआ पानी घोर यातनाओं के कारण लहराता हुआ, स्फटिक रूप फेन के कारण सफ़ेद मेघों के भीतर दिखानेवाले शुद्ध आकाश की तरह धव-

लित होकर अलौकिक गंभीरता धारण किए हुए है। प्रपात के आघात से निरंतर धब धब बजनेवाला वारिसमूह बुद्‌बुदों की लहरें बनाता है, वे दानों से भरे हुए बालों की तरह ऊपर नीचे दोलायमान् दिखाई देती हैं। जहाँ प्रपात की घनघोर गर्जना अपना अबाधित स्वरूप प्रगट किए सदा दुंदुभी की सी गंभीर ध्वनि करती रहती है वहाँ मन में भय और गंभीर आनंद मिश्रित होकर अकथनीय भाव पैदा करते हैं।

भारतवर्ष में ऊपर के वर्णन का स्मरण दिलानेवाला दृश्य जबलपूर के पास भेड़ाघाट स्थान पर है। भेड़ाघाट में नर्मदा नदी के गंभीर जलाशय, जल प्रपात, वनश्री और संग-मरमर के पत्थरों को काट कर बहनेवाले उसके प्रबल प्रवाह का हज़ारों वर्षों का किया हुआ कार्य दिखा देनेवाला दृश्य बड़ा मनोहर है। संसार के प्राकृतिक रमणीय दृश्यों में से एक दृश्य वह है जहाँ नर्मदा ने बड़े भारी पर्वत को काट कर अपना मार्ग निकाला है। वह स्थान "बंदर कूदनी" नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम इस प्रकार पड़ने का कारण यह है कि नर्मदा के जल रूपी आरे से कटे हुए श्वेत पाषाण के दो विशाल गगन-चुंबी करारे ऊँची दीवारों की तरह एक सीध में ऊपर तक चले गए हैं और शिखर पर उनका अंतर इतना है कि एक बंदर एक सिरे से दूसरे सिरे पर छलांग मार कर कूद जा सकता है। नीचे नर्मदा का जल संकुचित पात्र में से बहने के कारण तीव्र वेग से बहता है, इस कारण प्रेक्षक को

नौका उस वारि-प्रवाह-निर्मित कुंज सी विशाल और दूर तक जानेवाली गली के मुँह तक तो जा सकती है, आगे उसका जाना कठिन है। दूसरा कारण यह है कि इस स्थान से १-१॥ मील ऊपर को नर्मदा का बड़ा मनोहर प्रपात है, जहाँ नर्मदा का जल अनुमान सौ डेढ़ सौ फुट ऊँचे से गिर कर पत्थरों की चट्टानों को काट काट कर बनाए हुए सँकरे मार्ग से बड़ी तेज़ी के साथ बहता है। प्रातःकाल के समय यदि आप पहुँचें तो प्रपात के तुषारों से उठनेवाले बादल का सा तुषार आपके श्रमित शरीर को शीतल करेगा और यदि आप सूर्य किरणों का इस तुषार कृत मेघ में से देखें तो आपको सुवर्ण के कणों से आच्छादित इंद्रधनुष के रंगों से रंजित दृश्य दिखाई देगा। वह ईश्वर की प्राकृतिक सुंदर रचना आपके हृदय के भावों को उन्नत और गंभीर बना देगी।

गोदावरी के तट के प्राचीन जनस्थान को श्रीरामचंद्र ने अपना निवास स्थान बनाया था। वह स्थान अपूर्व सृष्टि सौंदर्य के कारण ही उन्हें पसंद आया होगा। भारतवर्ष का उषः काल जिस किसी निसर्ग देवी के भक्त ने देखा होगा उस का हृदय आनंद और उमंग से भरे बिना नहीं रह सकता। संपूर्ण सृष्टि रात के विश्राम के अनंतर प्रफुल्लित नूतन और आनंदमयी दिखाई देती है। नव पल्लव और फूलों की कलियाँ हमारे सामने मुकुलित दशा से विकास पाने लगती हैं। वे हमें सिखाती हैं कि आनंदी जीवन का विकास ज्ञान के सूर्य के

प्रकाश के साथ ही होता है। वृक्षों के अंकुर कल की अपेक्षा आज अंगुल दो अंगुल बढ़े हुए दिखाई देते हैं। प्रातःकाल की हल्की धूप शरीर को सुखद मालूम होती है। बनश्री की शोभा का सुखमय दृश्य, घनी छाया, पल्लवित वृक्षों और लताओं का विकास, सब कुछ प्रसन्न और आनंददायक मालूम होता है।

प्रवासी समुद्र का दृश्य देख कर ईश्वर की अपार शक्ति का परिचय पा सकता है। बड़े बड़े विशाल भवन देख इस छोटे शरीरधारी मनुष्य ने अपने सुख के सामान कितने विशाल और चिरस्थायी बनाए हैं, इसकी कल्पना होती है। कला कौशल की उन्नति के नमूने देख हमारी प्राचीन और आधुनिक सभ्यता का पता लगता है। मंदिर तो भारतवर्ष के धार्मिक भावों का अच्छा और उज्ज्वल नमूना ही हैं।

यात्रा करने की हमें हवस हो और वह हमें सुख और आनंद की देनेवाली हो तो यात्रा से हम गृह-सुख से हाथ नहीं धो बैठते। गृह-सुख का पूरा पूरा उपभोग लेने के अर्थ हमें बीच बीच में यात्रा-सुख मिलता रहना आवश्यक है, क्योंकि ये दोनों सुख एक दूसरे के पोषक हैं। प्रवास के सुखों में जिन बातों को गिना जाता है उन्हीं में यात्रा करके घर लौट आने के समय जो उत्कंठा और आनंद होता है, वह भी उपेक्षा योग्य नहीं है।

——o——

८—गृह-सुख।

उद्यम और व्यवसाय व्यवस्थित रूप से संपादन करके कुछ दिनों के लिये जो विश्राम मिलता है उसमें यात्रा करने के लिये जाना अधिक आनंददायी है अथवा ऐसी यात्रा का सुख प्राप्त करके नई कल्पनाओं से मन को प्रसन्न और संस्कृत करके, अपने घर के लोगों में, मित्रों में और ग्रंथों में मिलना ही अधिक प्रमोदकारक है, बहुधा यह निश्चय करना बहुत कठिन हो जाता है।

लीहंट ने लिखा है कि "किसी वयोवृद्ध यात्री द्वारा की हुई साहसपूर्ण, अद्भुत और विश्वासयोग्य यात्रा अथवा समुद्र-पर्यटन का वर्णन जिस ग्रंथ में है उसे अपने छोटे से घर में बैठ कर पढ़ने में जो सुख और आनंद है वह कहीं प्राप्त नहीं होगा।"

मेक्सिको, पेरू इत्यादि देशों में यात्रा करना या पासिफिक महासागर के द्वीपों में जलयात्रा करना बहुत ही रमणीय मालूम होगा। प्रेस्काट लिखित इतिहास और कैप्टन कुक के जलयात्रा संबंधी ग्रंथ की भाँति प्राचीन लेखकों के लिखे हुए वर्णन बहुत ही मनोहारि होते हैं। इन ग्रंथों में पुराने समाज की स्थिति और व्यवस्था का रूप भली भाँति बतलाया है। हमारी नित्य की यात्रा बरामदे से कमरे तक

और कमरे से भोजनागार तक चाहे इतनी ही हो तो भी इन प्रवास संबंधी ग्रंथों के अवलोकन से यही हमारी दैनिक यात्रा सुखकर होगी। गृह-सुख के उपकरण यद्यपि मर्यादित दिखाई दें तथापि वे इतने हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। मेकेंज़ी ने कहा है कि—"हमें अपनी आरामकुर्सी पर बैठ कर बिना घर छोड़े यात्रा करना, अनेक स्थल देखना, दूर दूर के मित्रों से भेंट करना, मानसिक दृष्टि से अनेक दृश्य अपनी दृष्टि के सामने लाकर कल्पना और स्मरण से उन्हें ज्यों के त्यों खड़े कर देना, यह बुद्धि की शक्ति अगर हम नित्य बढ़ाते जावें तो फिर हमें और क्या चाहिए?" अपना घर न छोड़ कर भी हम जितना चाहे स्थानांतर कर सकते हैं क्योंकि जैसे ऋतु बदलती है वैसे ही अपना घर भी बदलता है। घर तो वही है परंतु अपने कमरे में से देखने से जुदा जुदा मौसिमों की जुदी जुदी शोभा दिखाई देती है। वसंत ऋतु में वृक्षों से आई हुई नूतन पल्लव-श्री, वर्षा के दिनों में जहाँ देखिए वहाँ भरा हुआ पानी और हरे भरे वृक्ष और जाड़े के दिनों में उमंग से भरे हरे हरे खेत, स्वच्छ जल से भरी हुई नदियाँ और तालाब, इस प्रकार विविध वनश्री दिखाई देती हैं। एक ही घर में रह कर भी प्रतिदिन सृष्टि की सुंदरता के चित्तहारी रूप हमें दिखाई देते हैं। आकाश की शोभा को देख कर थोड़े ही लोगों को आनंद होता है यह बड़े आश्चर्य की बात है। प्रातःकाल के समय आकाश की शोभा कैसी होती है? देखिये ग्रे ने लिखा

है—"पहले आकाश में थोड़ी प्रभा पड़ कर उसमें सुनहले पीले और नीले रंग की छाया दिखाई देती है। फिर आँखों को चौंधिया देनेवाले प्रकाश से क्षितिज की कोर जगमगाती है, और सूर्यनारायण का आधा बिंब दिखाई देता है त्यों ही पूरा गोला उदय होता है। उसका प्रकाश इतना तेजपूर्ण और चमकीला होता है कि कुछ देर तक तो वह स्पष्ट दिखाई ही नहीं देता। यह दृश्य देख कर मन को यह मालूम होता है कि यह सौंदर्य कभी किसी ने न देखा होगा।"

जिसके नेत्र हैं उसे प्रातःकाल और सायं काल के समय आकाश की सुदरता देख कर आनंद ही होता है। रस्किन ने इस आकाश की दिव्य शोभा का वर्णन करने में जो बुद्धि और चतुरता खर्च की है वह पाठकों को अवश्य ही अद्वितीय प्रतीत होगी। वह लिखता है—"खमध्य से लेकर क्षितिज तक सब आकाश मानों पिघले हुए रंगों का एक रस और अग्नि का विस्तीर्ण समुद्र सा दिखाई देता है। क्षितिज के निकट काले श्याम वर्ण के बादलों की हर एक टुकड़ी सोने की चादर के समान चमकीली बनी है। स्वच्छ गुलाबी रंग, आसमानी, किरमजी इत्यादि जिन रंगों के भाषा में नाम तक नहीं हैं और जिनकी कल्पना हमें बिना उनके प्रत्यक्ष देखे बिलकुल नहीं हो सकती ऐसे अनेक प्रकार के रंगों से मेघों की लहरें शोभित हो रही हैं। आकाश का ऊपर का हिस्सा कहीं घना, कहीं स्वच्छ, कहीं फीका और कहीं हल्का नीला बना है और

कहीं पारदर्शी कुहरे से भर कर सुवर्ण के रस के पीले और लाल रंग का बन गया है।" इस प्रकार आकाश का रंग, रूप और सौंदर्य दिन भर बदलता रहता है तो भी—"बहुतेरे लोगों को इसका ज्ञान नहीं होता, यह आश्चर्य की बात है। आकाश ईश्वर-निर्मित सृष्टि का एक भाग है। उसमें मनुष्य के मनोरंजन के लिये और उसे शिक्षा और उपदेश मिलने के लिये जो करामात है वह सृष्टि के अन्य किसी भाग में नहीं दिखाई देती। यह बात सच है तो भी उसकी ओर हम बिलकुल ध्यान नहीं देते। ईश्वरकृत सृष्टि में से बहुत सी चीजें ऐसी हैं जो मनोरंजन के सिवाय दूसरे अधिक गंभीर हेतु से निर्माण की हुई हैं। प्रति दिन एक महा विशाल काला और विकराल रूप मेघ नील आकाश में आकर पृथ्वी को भिगो देता है, फिर आकाश स्वच्छ हो जाता है और फिर उस स्वच्छ और प्रशांत आकाश में संध्या के समय ओस पड़ने के लिये कुछ कुहरे की छाया पड़ती हैं। इससे स्पष्ट है कि उसके निर्माण करने के सब हेतु एक ही दिन में या प्रति दिन सिद्ध होते हैं। ऐसे दृश्य नित्य अगर न भी दिखाई दें तथापि अपने जीवन काल में समय समय पर आकाश में अगणित विचित्र दृश्य, चित्र और शोभा दिखाई देती है। इससे यह मालूम होता है कि आकाश विशेषतः हमारे उपयोग और मनोविनोद के लिये निर्माण किया गया है।"

जब सूर्य अस्त हो जाता है तब भी आकाश का ऐश्वर्य नष्ट

नहीं होता। "आकाश के विस्तीर्ण शामियाने के नीचे भूमि पर बिश्राम लेने और आकाश की शोभा देखने के समान आनंद-कारी बात कौन है?" सायंकाल होते ही यह समझ कर कि देखने योग्य अब कुछ नहीं है, मकान की खिड़कियाँ बंद करने की प्रथा ठीक नहीं है। अनंत सुवर्ण हीरों की तरह जड़े हुए उड़गन-विभूषित आकाश और चारु चंद्रिका फैलाता हुआ गगनविहारी चंद्र, इन दोनों के देखने से अधिक कोई दूसरा आनंद ही नहीं है। आकाश की चाँदनियाँ हमें कुछ शिक्षा अवश्य देती हैं। ऐसे तारारत्नों से भरे हुए खगोल का अर्ध भाग सर्वदा हमारी दृष्टि में आता है; उसे अगर हम ध्यानपूर्वक देखें तो उससे हमें शिक्षा और आनंद प्राप्त हुए बिना न रहेगा। "तारों की सहायता से हम समुद्रों में अपना अभिमत मार्ग चलते हैं, इतना ही नहीं परंतु विकार-वश मन के अंधकारमय समुद्र में से भी वे हमें पथ प्रदर्शित करते हैं। इस लिये उनका बड़ा महत्व सकझना चाहिए।"

कैसी शांत निशा! प्रशांत घर में उत्साह का वास है।
शोभायुक्त प्रसन्न निर्मल अहा! आकाश-विस्तार है॥
देखो! पूर्ण शशांक गोल नभ में मार्गस्थ है सोहता।
नीचे पर्वतराजियुक्त वन है आनंद से मोहता॥

—सदे।

इस सृष्टि में आकाश की दिव्य ज्योतियों का ऐश्वर्य और

उनकी श्रेष्ठता जान कर कई लोग चंद्र और सूर्य को देवता मान कर उनकी पूजा करते हैं; इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

सच मुच देखा जाय तो गृह-सुख बाहर नहीं है, घर ही में होता है। जो गृहस्थ अपनी बैठक या बरामदे में बैठ अपने कुटुंबियों के साथ इधर उधर की बातें करके उन्हें प्रसन्न करता है उसका संतोष असीम है और वैसा दूसरों को सपने में भी मिलना दुर्लभ है।

अपने घर में जब अपने आस पास सब प्रेमी जन एकत्र नज़र आते हैं, उस समय का सुख कुछ निराला है।

मधुरता घर के सुख की बड़ी।
बन कहो कहते किससे पड़ी ?
जहँ लगी मन की रति निर्मला।
घर वही रमणी जहँ कोमला ॥ १ ॥
प्रियतमा जहँ भौन सुप्रेम की।
बसत मूर्ति पतिव्रत नेम की।
जिन बच्यो अभिमान परस्पर।
तिन लह्यो सुख मान निरंतर ॥ २ ॥

—कँवल।

घर में बाल बच्चों के समागम से सुख तो होता ही है परंतु वहाँ अगर हम अकेले भी हुए तो भी गत समय की बातों का स्मरण होकर सुख होता है। विशेषतः बाल्यकाल में की हुई लीला और देखे हुए स्थानों का स्मरण होकर बहुत संतोष

होता है। श्रीकृष्ण अपनी बाललीला मथुरा में बैठे इस प्रकार स्मरण करते हैं—

कहाँ सुख व्रज को सो संसार। कहाँ सुखद बंसीवट जमुना, यह मन सदा विचार॥ जहँ वन धाम, कहाँ ग्वालन सँग, कहाँ संग व्रज वाम॥ कहाँ लता तरु तरु प्रति अरुझीं कुंज कुंज नव धाम॥

प्राचीन समय में जंगली लोगों की, अधिक तो क्या परंतु युनानी लोगों की भी गृहस्थिति प्रशंसा करने योग्य नहीं थी। उन्हीं युनानी लोगों को सांप्रत की और विशेषतः कावले की वर्णन की हुई गृहव्यवस्था की तुलना करके देखा जाय तो कितना अंतर दिखाई देता है। कावले कहता है कि जिस घर के आस पास सुंदर वाटिका और भीतर ग्रंथसंग्रह है उस गृह का गौरव अकथनीय है, और ऐसे गृह में यदि पतिव्रता स्त्री हो तो वहाँ के गृह-सुख का कुछ पार ही नहीं है। क्योंकि

पतिव्रता तिय में मिलत, सब प्रकार सुखवृष्टि।
ग्रंथ तासु सम्मति विमल, विपिनमनोहर दृष्टि॥

स्त्री रत्न के ऐसी प्रशंसा की पात्र होने पर भी उसके लिये सेंट क्रिसोस्टम जैसे ग्रंथकार लिखते हैं कि "स्त्री एक अनिवार्य आपत्ति, स्वाभाविक मोह, वांछनीय विपत्ति, प्राण हरनेवाली भूल, बाहर से मीठी और भीतर से अयोग्य विषरस भरे कनक घट के समान है।" जिनका अपनी माता पर, पत्नी पर या कन्या पर अत्यंत प्रेम है वे स्त्री-निंदा करनेवालों के ये वचन पढ़

कर चकित हो जाँयगे। इन दिनों युरोप खंड के सभ्य देशों में स्त्री-पुरुषों के परस्पर संबंध में जैसा सुधार हुआ है वैसा और किसी विषय में नहीं हुआ है। जंगली हालत में स्त्रियों को क्या क्या दुःख उठाने पड़ते थे, इसकी कल्पना तक करना बड़ा भयानक है। युनानी लोग बड़े बुद्धिमान, ज्ञान और ऐश्वर्य-संपन्न होकर भी जो स्त्रियाँ हमारे घर को इंद्र का नंदनवन बना देती हैं उन्हें दासी या उपभोग्य वस्तु ही मानते रहे हैं।

एक स्मृतिकार लिखता है कि "स्त्रियों को फूल से भी ताड़न नहीं करना चाहिए।" इससे मालुम होता है कि पूर्व काल में स्त्रियों के विषय में हमारी बड़ी गौरव की बुद्धि थी। परंतु क्या उनके विषय में अब भी हमारी वैसी ही बुद्धि है? कितनी ही वन्य जातियों को कुटुंब और गृह-सुख की कल्पना तक नहीं है।

जिन दो स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रेम नहीं है, उनका यद्यपि विवाह भी हो जाय तो भी उनको किसी वन्य पति-पत्नी के बराबर भी सुख नहीं प्राप्त होता और अंत में उन्हें विपत्ति ही उठानी पड़ती है। किसी काव्य में एक ऐसी कथा है कि एक कारीगर ने सोने की दुलहन बना कर अपने राजा को भेंट की। उसे बहुमोल देख कर राजा ने उसके साथ विवाह भी कर लिया। परंतु जिस समय वह उसे प्रेम से आलिंगन करता वह उसे प्रेम-विहीन लगती थी। यही अवस्था प्रेमहीन विवाहित स्त्री पुरुषों की है। फिर उनके गृहसुख का कहना ही क्या है?

प्रेमाभाव को जुदा रख कर केवल नासमझी के कारण ऐसे शब्द जो पूर्वापर विचार से दिल को बुरे न लगें किंतु क्रोध के आवेश में कहे जाँय तो उनसे हमेशा कलह होकर सुख का नाश होता है। इस लिये जिस क्षमा और शांति के कारण हम सब कुछ सह सकते हैं उन्हीं का अवलंब करके चलने से हमारी सांसारिक आपत्तियाँ नष्ट हो कर हमें सुख होगा। गृह को आप कोई छोटा स्थान न समझें। इस संसार सागर के तूफ़ान से बचने का वह बंदरगाह है। केवल गृहसुख की आशा कर बैठे रहने से वह प्राप्त नहीं होता। हमें चाहिए कि हम जान बूझ कर अपने घर को आनंद से परिपूरित करने का यत्न करें।

यह संसार दुःखमय है और बाह्य जगत् यदि स्नेह-रहित और डरावना हो तो घर में बैठ जिन अपने कुटुंबियों के साथ हम प्रेम करते हैं उनके स्मित हास्ययुक्त मुँह को देख कर और उनकी संगति का लाभ प्राप्त करके क्या हम सुख नहीं उपजा सकते?

९—विज्ञान।

"अनेक संशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं.........................."

अर्थ—अनेक संदेहों का उच्छेद करनेवाला और अदृश्य वस्तु तथा अर्थ को दरसानेवाला विज्ञान सब का नेत्र है......

जिन्होंने कभी विज्ञान का अभ्यास नहीं किया वे इस बात की कल्पना तक नहीं करते कि विज्ञान के जानने से उनकी संसारयात्रा कितनी सुखमय और मनोहारी होती है। जो लोग सोचते हैं कि विज्ञान का अभ्यास करना बड़ा कठिन और नीरस है, वे ग़लती पर हैं। बहुधा विज्ञान विद्या सुगम और चित्ताकर्षक भी है। प्राचीन समय में विज्ञानविद्या-संपन्न मनुष्य को सिद्ध पुरुष या महात्मा समझते थे। विज्ञानी पुरुष को व्यवहार चातुरी प्राप्त होकर उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और वह त्रिकालज्ञ बन जाता है। मूर्ख के लिये तो सब जगह अँधेरा ही दिखाई देता है। विज्ञान विद्या का अधिकार बड़ा है और स्वयं वह बड़ा रमणीय है। उसकी परिभाषा, वर्णन इत्यादि यद्यपि नीरस मालूम होंगे तथापि जिस प्रकार किसी भाषा का कोष उसका प्रधान अंग नहीं है उसी प्रकार विज्ञान के वे भी कुछ मुख्य अंग नहीं हैं।

भर्तृहरि ने गंगा की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि—

"शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत् क्षितिधरां।
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिं ॥"

अर्थात्--गंगा श्रीशंकर के जटाजूट से निकल कर स्वर्ग से नीचे हिमालय पर्वत पर गिरती है और वहाँ से भूमि पर आकर समुद्र में जा मिलती है, अथवा इंद्र ने अपने वज्र से खोद कर नदियों के मार्ग टेढ़े बाँके बनाकर उन्हें महासागर में पहुँचा दिया है, इस प्रकार की प्राचीन और मन पर पूरा असर करनेवाली सुंदर कल्पनाओं का विज्ञान से नाश हो जाता है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि पदार्थ-विज्ञान से नदियों की उत्पत्ति और उनका प्राकृतिक चमत्कारपूर्ण वास्तविक मूल कारण मालूम होने पर भी बहुत आश्चर्य होता है और ईश्वर की अलौकिक कृति की जितनी सुंदरता हमारे ध्यान में आती है उतनी मनुष्यकृत कल्पना की सुंदरता प्रतीत नहीं होती। विज्ञान का अनंत रूप किसी उपन्यास से भी अधिक चित्तहारी होता है।

अति सुंदर भाँति अनेक बनीं बहु वस्तु रहीं सुखमा सरसाई। यह विस्तृत विश्वविधान रच्यो विधिना की कला सब भाँति दिखाई॥ बहु रंग बिरंग के मेल दिखावन हेतु रच्यो धनु इंद्र चढ़ाई। अवलोकत ही मन मोद बढ़ै यहि सृष्टि सुहावनि की सुघराई॥

—बायरन।

उसी प्रकार मध्य युग में शास्त्र अथवा विज्ञान की उन्नति

ने जो पराक्रम किया उसका वर्णन म्याके ने किस प्रकार किया है, देखिए—

जर्जर सकल समाज प्रजा सब कर्महीन थी।
धर्म-ग्लानि थी हुई वीरगति अति मलीन थी।
ज्ञान प्रभाकर उदय हुआ जड़ता-निशि भागी।
अवनि रत्नगर्भा अनूप, यह वाणी जागी॥

वनस्पति विद्या बहुत से लोगों को नीरस मालूम होती है। उस विद्या का ज्ञान न होने पर भी हमें फल, वृक्ष और फूलों को देख आनंद होता है; किंतु वह आनंद किसी जन समाज में बैठे हुए महात्मा के दर्शनजनित आनंद के तुल्य नीरस होता है। परंतु यदि उस महात्मा का हमें परिचय होता और फिर उससे भेंट होती तो कितना हर्ष और कितनी शांति हमें प्राप्त होती। जिस मनुष्य को वनस्पति विद्या का कुछ भी ज्ञान है वह यदि किसी जंगल अथवा खेत में जाय तो इधर उधर स्वपरिचित वनस्पति रूप मित्रों को देख उसे आनंद होगा और उन प्रत्येक के सहवास से कुछ न कुछ नवीन ज्ञान होगा।

डाक्टर जानसन कहा करते थे कि एक उपवन देख कर फिर दूसरे के देखने की आवश्यकता नहीं। सुकरात का सा बुद्धिमान् किंतु विज्ञानरहित पुरुष कहा करता था कि यद्यपि मुझे ज्ञान संपादन करने की बड़ी इच्छा है तो भी झाड़ पात देख कर मुझे कुछ बोध नहीं होता। और कई लोगों का कहना है

कि वनस्पति शास्त्र के जाननेवाले जो फूल तोड़ते हैं न उसका उन्हें ज्ञान है और न उसके साथ उनका प्रेम ही है, उनके ज्ञान की सीमा वनस्पतियों को केवल लातिन भाषा के नाम देने ही तक होती है।

रस्किन यद्यपि वनस्पति विद्या में बहुत बड़ा पारंगत नहीं है तथापि साधारणतः ज्ञान का सच्चा भक्त होने के कारण उसने वनस्पति विद्या के विषय में जो विचार प्रगट किए हैं उनकी तुलना ऊपर दिए हुए विचारों से करने पर यह मालूम हो जायगा कि उनमें कितना अंतर है। "चरागाह में हरी घास मानों काली ज़मीन पर मीने का सा रंग और उसमें अगणित अंकुर निकले हुए देख कर हमें क्या लाभ होता है,इसका विचार करो। वनस्पति का नाम लेते ही जिस अनंत अर्थ की व्याप्ति पैदा होती है उसको तनिक ध्यान में लाओ। वसंत और ग्रीष्म ऋतु की श्रेष्ठता, सुगंधित मार्ग में टहलना, घनी छाया में दोपहर के समय विश्राम, भेड़ और अन्य पशुओं के समुदाय का आनंद, मेंढकों की जीविका और उनका संतोषमय जीवन, सूर्य बिंब का तेज, काली मिट्टी पर या ज़मीन से उड़नेवाली धूलि पर पड़नेवाली पन्ने की सी दमक या जामुनी रंग की छाया, छोटे छोटे जलप्रवाहों के किनारेवाली गौओं के चरने के वन, छोटी टेकरियों के हरे सूँड़ के से भाग और करारे जहाँ से समुद्र की नीली रंग की लहरें ऊपर को उठती हुई दिखाई देती हैं, प्रातःकाल की ओस से हृष्ट पुष्ट दिखाई देनेवाले

अथवा सायंकाल की कोमल धूप से गरम होनेवाले मैदान इत्यादि अनेक भाँति की शोभाओं का चित्र वनस्पति का नाम लेते ही मन के सामने खड़ा हो जाता है।"

एक विज्ञान विद्या का प्रेम होने से अन्य विद्वानों की ओर भी रुचि पैदा होने लगती है क्योंकि सब विज्ञान एक से चित्ताकर्षक हैं। अहा! ज्योतिर्विद्या का प्रभाव देखिए! ज्योतिषी अपनी विशाल वेधशाला में बड़ी रात तक बैठता है और अँधेरे में दूर तक दृष्टि पहुँचा कर कोई धूमकेतु ढूँढ़ निकालता है, फिर उसकी कक्षा का गणित करके यह निश्चित करता है कि इतने हज़ार वर्ष के बाद फिर वह पूछल तारा अपने ठिकाने पर आ जायगा और उसमें एक पल भर की भी चूक नहीं होती।

नियत पथ धरे ही नित्य नक्षत्र तारे।
सतत चल रहे हैं शांत आभा पसारे॥
यद्पि थिर नहीं वे, दृष्टि विज्ञान लाए।
गगन-पथ सदा ही ज्योतिषी को तकाए॥

यूडहाम्।

प्राणि-शास्त्र भी सब विद्याओं की तरह मनोरंजक है। इस विद्या के जाननेवाले लोग साँप, छिपकली इत्यादि प्राणियों को बोतलों में भर रखते हैं और इसी में यह समझ कर कि इस विद्या की परमावधि हो चुकी, आगे नज़र नहीं पहुँचाते। परंतु सच्चा विज्ञान का जाननेवाला सिर्फ़ नमूने इकट्ठे करके

ही नहीं रहता; वह जीव-शास्त्र के सच्चे रहस्य की ओर ध्यान देकर उसमें दृष्टिगोचर होनेवाली ईश्वरी लीला और कृति को देख कर चकित होता है।

हमें जो ज्ञान-दृष्टि प्राप्त है यदि वह वैसी ही क़ायम रहे और हम से अणु के बराबर कीटक का सूक्ष्म रूप धारण करते बने तो किसी पुराने गहरे ताल में डुबकी लगाते ही हम एक आश्चर्यमय नवीन सृष्टि में पहुँच जाँयगे। उस अनोखे जगत् में जो जीव अपने रोम जैसी सूक्ष्म वस्तु के सहारे पानी पर तैरते हैं उनकी आँखें गर्दन में मणि के कणों के समान चमकदार हैं और उनके हाथ पैर दुर्बीन की तरह कभी तो भीतर को छिपे हुए और कभी बाहर दूर तक फैले हुए दिखाई देते हैं। ऐसे अनेक विचित्र प्राणी हमें दिखाई देंगे। यहाँ कितने ही हमारे पैरों की उँगलिकों में से निकले हुए नाज़ुक जीव तालाब के तल में अपने शरीर को जहाज़ के लंगर की तरह रोप कर बैठे हुए, कई एक ज़िरहबख़्तर पहिने हुए, कोई चमकदार, कोई काँटेदार, कोई गुच्छेदार और सफ़ाईदार गोल रेखा के समान अवयवों से युक्त दिखाई देंगे। उसी तरह किसी डंठल की जड़ में चिपके हुए जंतु अपने शिकार को अपने फैलाए हुए मुँह में अपनी अदृश्य शक्ति से सदा आकर्षण करते हुए और उन्हें काँटे की तरह टेढ़ी दाढ़ों में फाँस कर अपने गहरे उदर में भरते हुए दृष्टिगोचर होंगे।

[illegible]कट ही उस डंठल पर पिंजी फूल के समान क्या

दिखाई देता है, उसकी ओर ध्यान दीजिए। उसकी खुली हुई चार पंखुरियों के आस पास एक चक्र घूम रहा है और सजीव और मृत वस्तुओं की सूक्ष्म माला उसके नीचेवाले खोखले भाग में चली जा रही है। इन प्राणियों का उस पोले स्थान में जाकर क्या होता है, सो नहीं देख पड़ता क्योंकि उस फूल के डंठल के आस पास बड़ी व्यवस्था से रचे हुए हीरों से जड़ी हुई एक नली है। किसी प्राणी के उस पर गिरते ही वह फूल निमिष मात्र में उस नली में अदृश्य हो जाता है।

इस कुंड में इससे भी गहरी डुबकी लगाने से नीचे बहुत ही छोटे छोटे प्राणियों के समूह दिखाई देंगे। वे अपने आकार-रहित अवयव चाहे जिधर फैलाते हों किंतु कोई भक्ष्य पदार्थ मिलते ही वे चारों तरफ उससे चिपट जाते हैं और उसे खा डालते हैं। वे बिना पैर के रेंगते हैं, बिना हाथ के पकड़ते हैं और बिना मुँह के खाते तथा बिना जठराग्नि के खाया हुआ पदार्थ पचा लेते हैं।

विज्ञान के ज्ञान के कारण जब इस प्रकार के चमत्कार मनुष्य को दिखाई देते हैं तब उसे इतना आनंद होता है कि मानों उसे आनंद का भांडार ही मिल गया हो। बहुतेरे लोगों की यह समझ होती है कि कीड़े मकोड़े और घास पात से जो लाभ है उससे अधिक मनुष्यों को सृष्टि के अन्य पदार्थों से लाभ नहीं है। जिस प्रकार लड़के पत्थर मारने के लिये पक्षियों की तरफ़ ध्यान देते हैं अथवा जिस प्रकार ग्रीनलैंड के एस-

किसी जाति के एक मनुष्य ने जेबघड़ी को देख पूछा कि खाने में वह कैसी है या जैसे केवल क़ब्र पूजने की इच्छा से एक परम भक्त अफ़्रीदी ने मुहम्मद के एक वंशज का क़त्ल कर दिया, उसी प्रकार के विचार से लोग सृष्टि की ओर देखते है। परंतु पदार्थ-विज्ञान विद्या पर अनुराग करने से मनुष्य जाति के मन पर क्रमशः उत्तम संस्कार होकर उनकी पूर्व वृत्ति में चराचर सृष्टि के लिये पूज्य भाव पैदा होगा। विज्ञान हमें पुकार कर कहता है कि देव-दर्शन के लिये देवालय में चलिए।

अति सुंदर यह भुवन मनोहर धाम परम अचरज को।
सुंदर सूर्य्य शशांक सुशोभित परम दिव्य सजधज को॥
ये घन सघन उमँड़ कर कैसे गरजत हैं मँड़राई।
कर्त्ता को यश गान करत हैं दुंदुभि तुमुल बजाई॥

—स्मिथ।

सर्व साधारण को जो कीचड़ और कचरा दिखाई पड़ता है उसमें भी सुंदर वस्तुओं का बीज मालूम होगा। जिस कीचड़ को रास्ते में हम अपने पैरों तले कुचलते हैं वह मिट्टी, रेत, कालिख और पानी आदि के मेल से बना है। रेत को धोकर जुदा कीजिए और उसके कणों की उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार रचना कीजिए तो उनका स्फटिक बनता है। मिट्टी को जुदा कीजिए और साफ़ कीजिए तो वह स्वच्छ सफ़ेद हो जायगी और उसके चीनी के से सुंदर बर्तन बन सकते हैं। और अधिक स्वच्छ की जाय तो उसका नीलम

बनता है। कालिख यदि योग्य उपाय से स्वच्छ की जाय तो उसका हीरा बनेगा। पानी को स्वच्छ करने से तारे के समान चमकीले हिमकण और जमाने से बर्फ़ बन जाती है। किसी उथले कुंड में देखो। पानी स्थिर हुआ तो आकाश की परिछाईं दिखाई देगी या उसी में कीच और मैल दिखाई देगी।

जहाँ सचमुच कुछ भी चमत्कार नहीं है वहाँ भी किसी न किसी चमत्कार का होना संभवनीय है। इस प्रकार की भ्रम पूर्ण कल्पना भी यदि कर ली जाय तो उससे मनुष्य की कुछ हानि नहीं होगी। एक सज्जन की एक आँख बिलकुल नष्ट हो गई थी। उसके बदले वह एक बनावटी आँख लगाए रहता था। उसके एक मित्र की समझ में यह बात न आती कि यह बनावटी आँख है। वह उसे परम तेजस्वी मानता और अपने मित्र को बड़ा दयालु समझता था। इस प्रकार की ग़लती यदि किसी ने की तो उसमें कुछ हानि नहीं।

विज्ञान के अभ्यास से हमारा उत्तम रीति से मनोरंजन होता है, इसी कारण यदि उसकी प्रशंसा की जाय तो ठीक नहीं। विज्ञान के परिशीलन से अपने जीवन का उत्तम उपयोग करने की जो शिक्षा हमें मिलती है वह अमूल्य है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। जो जिज्ञासा शक्ति मनुष्य में प्रायः जन्म भर सोती हुई सी रह जाती है वह विज्ञान के अध्ययन से जागृत होकर बढ़ती है और सामान्य सिद्धांत जल्दी और सप्रमाण स्थापित करने की शक्ति पैदा होती है, साथ ही अपने विचार

व्यवस्थित रीति से और एक क्रम को लिए हुए प्रकाशित करने की मन को आदत होने लगती है और युवा विद्यार्थियों को कार्य-कारण के अनुक्रम की खोज करने का अभ्यास हो जाता है। जो विचार-परिपाटी वे सहज में समझ लेंगे और जिससे उनके चित्त का चाव बढ़ेगा उसका उन्हें परिचय होगा। विचार करने के कष्ट से जी चुरा लेना और सदा सब बातों में उदासीन होकर रहना इत्यादि जो अर्ध सभ्य जाति के लोगों के मानसिक दोष होते हैं वे विज्ञान के बोध से नष्ट हो जाते हैं।

यदि हम पदार्थ-विद्या की महत्ता पर विचार करें और यदि हम अत्यंत प्राचीन समय में अथवा इस आकाश के अनंत और विस्तृत प्रदेश मे अपने को कल्पना में ले जाकर छोड़ देवें तो हमें इस संसार के दुःख और बाधाएँ बिलकुल क्षुद्र प्रतीत होंगी। आप इस आकाश-मंडल की ओर देखिए। ये ग्रह परमेश्वर ने कितने सुंदर बनाए हैं! ये तारागण हमें भूमंडल के समुद्रों पर सिर्फ़ रास्ता ही नहीं दिखाते किंतु हमारे क्षुब्ध और विकारयुक्त मन के अँधेरे से पूर्ण समुद्र में से भी मार्ग बताते हैं। हमें उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। अगर मनुष्य ध्यान देकर देखे तो उसके लिये उपदेश और सहायता करने के लिये आधा खगोल सर्वदा उद्यत है।

एक व्याख्यान में हक्स्ले ने कहा है कि—"अगर हम यह कल्पना करें कि हमारे जन्म की संपूर्ण सफलता और हमारा

ईव यदि शतरंज की एक बाजी के हारने और जीतने पर निर्भर हो तो क्या हमारा यह विचार न होगा कि उसकी गोटियों के नाम तथा चलने के नियम कम से कम समझ लेना हमारा कर्तव्य है ? यदि हमारे माता पिता और सरकार ने प्यादा तथा वज़ीर में बिना फर्क़ किए (ऊँच नीच का विचार त्याग कर) यों ही किसी को छोटे से बड़ा होने दिया तो हम उनके विषय में क्या सोचेंगे ? शतरंज के खेल से बहुत कठिन खेल के नियमों के जानने पर ही हम आप सबों के और हमारे उन संबंधियों के, जो हम से कुछ भी नाता रक्खे हुए हैं जीवन प्रारब्ध और सुख अवलंबित हैं। यह बात स्पष्ट है। इस कठिन खेल को खेलते खेलते असंख्य युग बीत गए। इस खेल में हर एक पुरुष और स्त्री खेलनेवाली है। यह जगत् शतरंज का पट है। सृष्टि-चमत्कार प्यादे और प्रकृतिक नियम शतरंज के नियम हैं। इस खेल में विशेषता इतनी ही है कि दूसरा खेलनेवाला हमेशा अदृश्य रहता है। परंतु यद्यपि वह दिखाई नहीं पड़ता तथापि हम जानते हैं कि वह अत्यंत ईमानदार, न्यायी और शांत है। वह कभी हमारी ग़लती की ओर से बेख़बर नहीं रहता। यदि हम ठीक चाल नहीं चले तो वह कभी क्षमा नहीं करता। यदि हम अच्छी तरह खेले तो वह अंतःकरण से उसका उत्तम फल देने को तैयार है। त खेले तो शांति के साथ दया न करके वह हमें बराबर मात करता रहता है।"

पदार्थ-विद्या धर्म को सुधार कर अच्छे रूप में लाई है। इस विज्ञान की उन्नति के कारण ही जादू, मंत्र, तंत्र, टोना आदि पुरानी समझ की बातों पर से लोगों का विश्वास कम होने लगा है और जिस अंध विश्वास के कारण लोगों का धर्मच्छल होता था वह भी कम हो गया है। अर्थात् विज्ञान-विशारद और उच्च श्रेणी के धर्मोपदेशक की योग्यता एक ही सी है।

सब प्रदेशों में वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार होना अत्यंत आवश्यक है। विज्ञान का हम पर कितना बड़ा उपकार है, यह हम भूल जाते हैं क्योंकि उसके आश्चर्यमय और सहजप्राप्त फलों का अनुभव नित्य के व्यवहार में मिलने के कारण हम उनकी उत्पत्ति और महत्व भूल जाते हैं। अपने कमरे का लंप एक दियासलाई रगड़ कर हम जलाते हैं परंतु उस सलाई के महत्व का क्या हम कभी विचार करते हैं?

किसी एक विज्ञान का अभ्यास एक बार ही शुरू नहीं करना चाहिए। सब बड़े बड़े विज्ञानों के मूलतत्त्व और उनके प्रकाशित करने के लिये स्थूल उदाहरण तथा विशेष भागों का प्रथम ज्ञान होना चाहिए। किसी विज्ञान के पूर्ण अभ्यास की यही मूल पीठिका है। किसी भौतिक चमत्कार को लीजिए। उसका सर्वांगपूर्ण ज्ञान होने के लिये बहुत से अथवा सब विज्ञानों का परिचय होने की आवश्यकता है, यह बात विज्ञान के विद्यार्थी के मन पर जितनी जम जायगी

उतना ही अच्छा है। इस सृष्टि की विशेष महत्व की बातें जिन का हमें ख्याल भी न होगा ऐसे स्थान में छिपी रहती हैं जिनका हमें ध्यान भी नहीं आता। बड़े बड़े कारखानों के कूड़े कर्कट में कई अमूल्य पदार्थ मिले हुए हैं, जो सब ने फेंक दिए हैं। ऐसी वस्तुओं द्वारा ही कल्पना की चतुराई से ग्लाबर ने सॉल्ट नामक क्षार पैदा किया है।

यह बात बिलकुल यथार्थ है कि इस भारतवर्ष की भविष्यत् उन्नति और सुख की जड़ विज्ञान-विद्या पर निर्भर है। यहाँ की मनुष्य-संख्या लगभग ३० करोड़ के है और इस समय के अनुसार वह दिन दिन बढ़ती जायगी। सांप्रत हम लोगों की जीविका जमीन की पैदावार पर बड़े कष्ट से बीतती है। यही १०० बरस बाद होगी या नहीं, इसमें संदेह है। गत १० वर्षों में इस देश की मनुष्य-संख्या लगभग ४॥ करोड़ के बढ़ी है। अगर प्रजा-वृद्धि का यही प्रमाण माना जाय तो १०० वर्ष में जन संख्या इतनी बढ़ेगी कि उसका पोषण करने के लिये देश की आबाद जमीन से पूरा नहीं पड़ेगा। फिर इतनी अधिक प्रजा का कैसे ठिकाना लगेगा? अगर प्रजा की वृद्धि किसी कृत्रिम उपाय से कम की जाय तो उससे अनीति और दुःख होगा। अगर जन-संख्या इसी प्रमाण से बढ़ती गई तो मनुष्यों की दशा बहुत शोचनीय हो जायगी। भविष्यत् में उत्पन्न होनेवाले इस संकट को दूर करने के लिये एक उपाय दिखाई देता है। कला कुशलता और पदार्थ आदि विद्याओं

का प्रचार देश में बढ़ाया जाय और देश में जो अनेक प्रकार के उद्योग धंधे हैं उनमें इन विद्याओं से सहायता ली जाय तो सामने दिखाई पड़नेवाला अरिष्ट दूर हो जायगा। यदि विज्ञान-विद्या को देश की पालन-कर्त्री समझ लिया जाय तो भी जब तक उसकी सेवा न की जायगी तब तक वह सहायक न होगी। इँगलैंड जैसे धनवान् और ज्ञानसंपन्न देश में भी जब इस बात की विवेचना हो रही है कि उक्त संकट टालने के लिये विज्ञान-विद्या का प्रचार किस प्रकार होना चाहिए तो भारत जैसे अज्ञान में पड़े हुए विपद्ग्रस्त और हर तरह से पंगु देश में विज्ञान का महत्व कितना होना चाहिए ?

जो लोग निसर्ग में खोज करेंगे उन्हें आश्चर्य पैदा करने-वाली और मनुष्य जाति के लिये उपयोगी बहुतेरी आविष्कार की नई बातें मालूम होंगी। इँगलैंड जैसे देश में १०० वर्ष में विज्ञान का इतना प्रचार होगा कि इस समय जो वैज्ञानिक ज्ञान बड़े वैज्ञानिक को है वह किसी मामूली किसान को हो सकेगा। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले एक ग्रंथकर्ता ने लिखा है कि—"ऐसी एक भी वस्तु संसार में नहीं है जिसका पूर्ण उपयोग मनुष्य को मालूम हुआ हो।" यह कहना सांप्रत में भी ठीक होगा। परंतु यह अज्ञान आगे चल कर भी ऐसा ही नहीं बना रह सकता है। सर जान हर्शेल का कहना है कि "जो पदार्थ हमें इस समय प्राप्त है वे पदार्थ-विद्या के प्रचार के साथ साथ अधिकाधिक हमें प्राप्त होते जाँयगे। उनका अनेक

कामों में उपयोग करना अगर मनुष्य जाति को मालूम होना बाकी है तो मनुष्य के सुख के साधनों में इन पदार्थों की वृद्धि होगी और मनुष्य की हालत अच्छी होती जायगी। इतना ही नहीं बल्कि यह आशा की जाय तो अयोग्य न होगा कि प्राकृति के चमत्कारों का अनुमान करने और उसके मुख्य नियमों के जानने की हमें विशेष योग्यता प्राप्त होगी।"

विज्ञान की उन्नति से केवल हमारी इंद्रियों के ही सुख के साधन नहीं बढ़ जाँयगे, प्रत्युत व्यक्ति तथा राष्ट्र के बर्ताव और आचार विचार भी उन्नति को प्राप्त होंगे। टेनिसन ने जो कहा है वह व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिये उपयुक्त होता है—

स्वाभिमानयुत जो जग में मतिमान् धीर नर।
परम संयमी और निग्रही मृदुभाषी वर।
आधिपत्य औ मान सदा से हैं वे पाते।
उनकी बात प्रमाण मान सब सीस झुकाते॥
करते हैं सब नियमों का वे निर्भय पालन।
उनके पथ पर चलते हैं सब और इतर जन॥

दो दिन की चलती के दिनों में जब हम थोथे अभिमान से फूल कर बेहाल हो जाते हैं, उस समय विज्ञान के ज्ञान के कारण हम ठिकाने पर आ जाते हैं और हमें शांति, आनंद और सुख का आस्वाद मिलता है। जिस सयय निराशा से दिल टूटने के कारण हम उदास हो जाते हैं उस समय उसी वैज्ञानिक ज्ञान के मधुर शब्दों से हमें शांति मिलती है। इस

संसार के बखेड़ों में जिस समय तुम पर कोई विपत्ति आ पड़ती है और तुम्हारे मित्र तुम्हें छोड़ जाते हैं, और सब लोग तुम्हें देख दया न करके तुम्हें छोड़ आगे चले जाते हैं उस समय लिलिअस और सिपिओ की मित्रता, सिसिरो, डेमास्थनीज और बर्क की स्वदेशभक्ति और सबों पर दया करने-वाले और अपराधों को क्षमा करनेवाले परम उदार परमेश्वर के उपदेश का चिंतन कीजिए। इससे आप निःसंदेह दुःख से मुक्त हो जाँयगे।

हम पदार्थ-विद्या के कितने ऋणी हैं, यह बात आर्च डीकन फरार साहब ने लिवरपूल में एक व्याख्यान देकर बहुत अच्छी तरह समझा दी थी। फरार साहब का कथन है–"तुम्हारे इस महान् व्यापारी नगर में पदार्थ-विज्ञान और यंत्र-विज्ञान की मानों जहाँ तहाँ विजय-पताकाएँ फहरा रही हैं। तुम्हारी इस नदी में घूकनेवाले जहाजों के पीछे पानी में जो फेन की शुभ्र शृंखला दिखाई देती है वही व्यापारी धनिक लोगों के राज-मंदिरों जैसे विशाल महलों का मार्ग है।

"विज्ञान शास्त्र ने जो पराक्रम दिखाया है वह सौंदर्य और आश्चर्य से भरा हुआ है। इतना ही नहीं किंतु वह परोपकार और बल से आकंठ परिपूर्ण है, यह बात आप लोग स्वयं अनुभव कर रहे हैं। यह अपार आकाश अगणित भूगोलों से भरा हुआ है, इस अनंत काल के महोदर में असंख्य प्राणी हो गए हैं और आज तक नेत्रों से न दिखनेवाले सूक्ष्म, सतेज और

सुंदर असंख्य प्राणी जगत् में भरे पड़े हैं। इतना ही सा चमत्कार हमारी नज़र में आकर विज्ञान की इतिश्री नहीं हुई किंतु विज्ञान मनुष्य जाति की सदैव सेवा करता रहा है, यह भी आपके अनुभव की बात है। विज्ञान और उसके अनुयायियों ने निर्दय राजाओं का यश बढ़ाने और उनके दरबार का वैभव बढ़ाने के लिये यत्न नहीं किया है वरन् उन्होंने कष्ट इसलिये उठाया है कि मनुष्य के सुख की वृद्धि हो, प्रजा के श्रम सुगम हों और उनका दुःख कम हो। जहाँ पहले मनुष्य को भट्टी के सामने आँखें चौंधिया कर खुले शरीर कष्ट उठाने पड़ते थे वहाँ अब हम अदृश्य हवा की सहायता लेते हैं। हमारे प्रिय जनों के चित्र खींचने के लिये सूर्य के प्रकाश की योजना हो रही है। ग़रीब कोयले खोदनेवाले को निर्भय होकर अपना काम कैसे करना चाहिए, यह बात विज्ञान ने ही सिखलाई है। बीमार को नींद में वेहोश करके उसे बिना दुःख हुए उसकी आँख जैसे नाज़ुक अवयव का जाला शस्त्र से किस प्रकार काट लिया जाय, यह विद्या चतुर सर्जन को विज्ञान ही ने सिखाई है। सैकड़ों बरस तक जिस के बनाने में ग़रीब मज़दूर खपते रहे थे उस पिरामिड जैसी इमारत को न दिखा कर विज्ञान तुम्हें समुद्र के बीच रचे हुए दीपस्तंभ, भाफ़ से चलनेवाले धूआँकश, रेल और तारायंत्र दिखाता है। विज्ञान ने अंधे को आँख और बहिरे को कान दिए हैं और मनुष्य की आयु बढ़ाई है। उसके संकट और दुःख कम किए हैं और अज्ञान को रोक

कर रोगों को दबा दिया है। इसलिये जिसके द्वारा विचारों को शिक्षा मिलती है, कल्पना को उत्तेजना मिलती है, मन का उत्तम संस्कार होकर वह उन्नत होता है और संस्कृत होने से शांति लाभ करता है, ऐसे विषय का ज्ञान आपकी संतान मात्र को होना चाहिए।"

१०—शिक्षा।

मातेव रक्षति, पितेव हिते नियुंक्ते।
कांतेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्॥
लक्ष्मीं तनोति, वितनोति च दिक्षु कीर्तिं।
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

—सुभाषित।

अर्थात्–कल्पवृक्ष की तरह विद्या मनुष्य को क्या नहीं देती? माता के समान रक्षा करती है, पिता की भाँति हित में लगाती है, प्रिया की तरह दुःख को टाल कर रंजन करती है, संपत्ति को बढ़ाती और दिगंत में कीर्ति फैलाती है, तात्पर्य यह कि सब कुछ इससे प्राप्त होता है।

यह बात कदाचित् किसी को अनोखी प्रतीत होगी कि सांसारिक सुखों में शिक्षा की भी गिनती की गई है। क्योंकि बच्चों को तो पढ़ना लिखना बहुधा अच्छा ही नहीं लगता और जो कुछ पढ़ाई होती भी है वह पाठशाला के छूटते ही बंद हो जाती है। परंतु अधीत विद्या को यदि फलदायिनी बनाने की इच्छा हो तो प्रथम तो बालकों को योग्य शिक्षा मिलनी चाहिए और दूसरे वह इस प्रकार दी जानी चाहिए कि उसे वे चाव के साथ प्राप्त करें और तीसरे विद्यार्जन का काम आजन्म जारी रखना चाहिए।

ज्ञानार्जन का कार्य एक बड़ी न्यामत है। लोग कहते हैं कि विद्यार्जन करने का मार्ग राजमार्ग का सा सुगम नहीं है परंतु वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान-प्राप्ति के सब ही मार्ग राजमार्ग हैं। हमारी आँखें आसमान की सुंदरता देखती हैं और कान मधुर गीत वा सुबानी सुन कर प्रसन्न होते हैं परंतु उससे होनेवाले ऐंद्रिय सुख या मानसिक आनंद का स्वाद लेनेवाला एक मन ही है। वह मन जितना उन्नत होगा उतनी ही उसे उस आनंद की मधुरता अधिक प्राप्त होगी। नभोमंडल के रत्नवत् तारे उसका सुहावना नीलवर्ण और इस विश्व की व्यवस्था और क्रमशील परिपाटी को देख जिन लड़कों के मन पर कुछ भी संस्कार न होता हो उनका इन चमत्कारों को देखना या न देखना दोनों एकसा है! इसलिये जिस शिक्षा से बालकों के मन रसिक और उन्नत बनें उसे सच्ची शिक्षा कहना चाहिए।

बालकों की स्मरण शक्ति पर बहुत से ज्ञान का बोझ लाद देना भी शिक्षा का असली हेतु नहीं है। उनका मन संस्कार-युक्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है, नहीं तो–

"व्यर्थ भाराभर केलें पाठांतर। जोंवरि अंतर शुद्ध नाहीं"

—तुकराम।

अर्थात्–जब तक अंतःकरण अर्थात् मन को शुद्ध नहीं किया, मन को संस्कार प्राप्त नहीं हुआ तब तक खूब रटाई भी की, तो क्या लाभ?

बेकन ने कहा है कि—"बहुत विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में

बहुत सा समय खर्च करना भी एक तरह का आलस्य है, उस ज्ञान को वादविवाद में उपयोग करना दांभिकता है और उसके नियमों के अनुसार अपना मत क़ायम करना पांडित्य की मानसिक लहर है। ज्ञान वह है जिससे मानवी धर्म को पूर्णता प्राप्त हो और वह ज्ञान अनुभव से पुष्ट होना चाहिए।"

मिल साहब का कथन है कि—"सांप्रत जिस सामाजिक व्यवस्था में हम रहते हैं उसके अन्य व्यक्ति और हम एक ही हैं, यह समझ कर उनके सुख दुःखों में भाग लेने की प्रवृत्ति नहीं होती, इससे मनुष्यों में परस्पर विरोध होता हुआ दिखाई देता है। परंतु शिक्षा से हम और हमारे भाई सब एक हैं, इस विचार का बीज बोया जाने में बहुत कुछ सहायता होगी और यही हेतु सामने रख कर अगर विद्या का व्यसन नहीं किया तो बहुत सा ज्ञान प्राप्त करके भी मन को शांति नहीं प्राप्त होगी।

"बहु रटंत करी तनु को थका।
बहुत शास्त्र पढ़े मति को झुका॥
अति प्रसन्न हुई मनु शारदा।
पर रहा मतिहीन, दुखी सदा॥

"विद्या को विश्राम का मंच, एकांत में अकेले घूमने के लिये मठ, ऊँचे खड़े रह कर औरों को तुच्छ मानने के लिये बुर्ज, दूसरों से युद्ध करने के लिये क़िला अथवा उद्यम और धँधे की दूकान नहीं बनाना चाहिए प्रत्युत जिससे हमारे जीवन की उन्नति हो और ईश्वर की लीला का यश जगत् में

फैले, ऐसे उपायों का वह भांडार होनी चाहिए।" तुमने बड़े बड़े महल और प्रासाद बनवाए इससे यह न समझना चाहिए कि तुमने देश का कुछ हित किया। तुम्हारे हाथों यदि तुम्हारे स्वदेश बांधवों के मन उत्कर्ष पावें तब ही समझना चाहिए कि तुमने बड़ी देश-सेवा की। क्योंकि क्षुद्र गुलामों के बड़े बड़े राजमहलों में रहने की अपेक्षा उदार चित्त के लोगों का झोपड़ों में रहना अच्छा है।

उक्त हेतु सफल होने के लिये आधुनिक शिक्षा पर्याप्त है या नहीं, हाल की शिक्षा परिपाटी से विद्यार्थियों को ज्ञान के विषय में प्रीति पैदा होती है या नहीं और जो विषय विद्यालयों में सिखाए जाते हैं उनकी सच्ची क़ीमत विद्यार्थी लोग समझते हैं अथवा वे पाठशाला छोड़ने के पश्चात् उन विषयों को भूल जाते हैं, इन बातों का विचार करना आवश्यक है।

किसी एक ख़ास विषय के व्यसन में छोटी अवस्था में मन को अटका रखना अच्छा नहीं। शिक्षा की उत्तम पद्धति क्या होनी चाहिए, यह बात प्रकृति के नियमों से भली तरह मालूम हो सकती है। अपनी निज की रुचि के अनुसार देखा जाय तो बहुधा हमें योग्य शिक्षा परिपाटी मिल जायगी। इस लिये जिन विषयों की तरफ़ छोटे बालकों का मन नहीं लगता वे विषय उन्हें सिखाने से लाभ नहीं होगा। क्योंकि "जिस व्यवसाय से मन आनंदित रहेगा, वही यश का देनेवाला हो सकता है।"

भारतवर्ष में इस समय शिक्षा की जो प्रथा जारी है वह

इँगलैंड के शिक्षा-क्रम के नमूने पर है। इस देश की लोकस्थिति को देख कर यह नियत नहीं की गई, इस कारण उससे जितना लाभ लोगों को होना चाहिए उतना नहीं होता .ख़ास इँगलैंड में भी शिक्षा-परिपाटी के विषय में मतभेद है। कई लोगों का यह कहना है कि सांप्रत वहाँ की शिक्षा-प्रणाली उत्तम है; सिर्फ़ पाठशालाओं की संख्या बढ़ानी चाहिए। परंतु कई एक लोगों का यह कहना है कि यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि इँगलैंड में विद्या का प्रचार इस हद्द तक होकर भी औसत देखा जाय तो एथेंस की साधारण प्रजा जितनी शिक्षित रहा करती थी उतनी शिक्षित यहाँ की प्रजा नहीं है। फिर भारतवर्ष के लोगों का कहना ही क्या ? यह दोष थोड़े अंशों में कम से कम शिक्षा-प्रणाली का ही है।

यह बात यद्यपि मानी गई है कि इँगलैंड तथा भारत में विज्ञान और कला कौशल की शिक्षा से लोकोत्कर्ष वा देशोन्नति के काम में बहुत सहायता हो रही है, तथापि पाठशालाओं और विद्यालयों में इन विषयों की तरफ़ यथावत् ध्यान नहीं दिया जाता। इनकी जगह जिन विषयों का व्यवहार में प्रायः उपयोग कम होता है ऐसे विषयों को महत्व दिया जाता है। ख़ास इँगलैंड में बहुत दिनों से इस विषय में लोगों की शिकायत है। "हमारे लड़कों के पीछे व्याकरण के नियमों की रटाई व्यर्थ लगा रक्खी है ! जिसे बहुत भाषाएँ आती हैं उसे अगर शब्दों की व्युत्पत्ति और व्याकरण के नियमानुसार उन भाषाओं

के बड़े बड़े विषयों के सच्चे ज्ञान की प्राप्ति न हुई तो उसकी और अपनी स्वभाषा को भली तरह जाननेवाले साधारण व्यापारी या खा पीकर सुखी रहनेवाले गृहस्थ की विद्वता एकसी ही समझनी चाहिए"—यह एक कवि का कथन है। दूसरे एक तत्वज्ञ का कथन है कि—"विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिये विद्यार्थी तैयार होते हैं, परंतु जगत् के व्यवहार के लिये तैयार नहीं होते।" सांप्रत की शिक्षा-पद्धति से मन का संस्कार नहीं होता, चतुरता नहीं आती और किसी एक विषय के पढ़ने में जितना समय विद्यार्थी का ख़र्च होता है उसके विचार से उसका ज्ञान उतना नहीं होता।

पाठशाला और बड़े बड़े विद्यालयों में काव्य, नाटक और गणित इत्यादि पर बड़ा ज़ोर दिया जाता है। हम यह नहीं कहते कि ये विषय बड़े नहीं हैं परंतु इन्हीं में प्राकृतिक विज्ञान को भी जगह मिलनी चाहिए। पाठशालाओं में पुस्तकी ज्ञान के आगे विद्यार्थी की मंज़िल पार नहीं होती। उनकी स्मरण शक्ति पर बहुत ज़ोर पड़ता है और उनके मनों का संस्कार नहीं होता। प्राथमिक शिक्षा की शालाओं में अक्षरों और शुद्ध लिखने का झंझटों से बालक घबड़ा जाते हैं, इतिहास में सन् और लड़ाइयों के स्थानों की लंबी लंबी तालिकाओं से उनके मन दब जाते हैं परंतु उनके मनों पर कुछ स्पष्ट कल्पना नहीं होती, न ऐसी बातों की रटाई से व्यवहार में उन्हें कुछ सहाय मिलती है। कालेज जैसे विद्यालयों में भी यही बात जारी है।

छोटे बालकों की शिक्षा-परिपाटी में इसके बिलकुल विरुद्ध रीति शुरू होनी चाहिए। उनके मनों को नीरस बातों की स्मृति से न लाद कर उनके मनों के अनुकूल शिक्षा देकर उनकी रुचि ज्ञान-प्राप्ति की ओर बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार आग्रह करना ठीक नहीं कि अमुक विषय विद्यार्थी को सीखना ही पड़ेगा। जिस तरह से उसे सीखने में उत्साह पैदा हो वही प्रकार काम में लाना चाहिए। लड़का थोड़ा बहुत पढ़ गया, इस तरफ बहुत ध्यान दो; किंतु जिस विषय की उसे अभि-रुचि है ऐसा विषय उसने यदि थोड़ा भी सीखा तोभी वह अपने आप उसमें अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेगा। जिस विषय की उसे रुचि नहीं है वह यदि शाला में उसे बहुत भी पढ़ाया जाय तो भी शाला छोड़ते ही वह उसे भूल जायगा। लड़के स्वभाव ही से बड़े चौकस होते हैं, प्रत्युत उनकी चौकसी करने की बुद्धि को बढ़ाना चाहिए। उनकी स्वाभाविक पसंद के अनुसार उन्हें सिखाओ तो वे अपने आप सीखने लगते हैं। कभी कभी तो शिक्षा-क्रम इतना कष्टमय होता है कि उससे जिज्ञासा बिलकुल नष्ट हो जाती है और जो स्थान विद्या की उत्तेजना के लिये बने हैं वे उसके विरोध के कारण बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि बच्चों की जिज्ञासा-बुद्धि बढ़ा कर उनमें विचार करने की आदत डालनी चाहिए। इससे फुरसत का समय आनंद में बिताने और व्यवहार सुविचार और सज्जनता के साथ बर्ताव करने का उचित अभ्यास उन्हें हो जायगा।

इस समय हमें जो ज्ञान प्राप्त है वह हमारे अज्ञान के हिसाब से कुछ भी नहीं है और ज्ञान-सागर का हमें अभी कुछ भी पता नहीं लगा है, यह बात अगर विद्यार्थियों के अंतःकरणों पर अंकित करा दी जाय तब ही उन्हें अपने ज्ञान की सीमा बढ़ाने का उत्साह होगा। क्योंकि प्रकृति के चमत्कार देख कर आश्चर्य होता है और उसके ज्ञान की वृद्धि होती है।

विद्यालय के छूटते ही विद्या-व्यसन बंद नहीं होना चाहिए। विद्यागृह में जो शिक्षा मिलती है उसे आगे भी जारी रखना चाहिए। हम चाहे जिस उद्योग या धंधे में रहें तो भी हमें अपने मन की रुचि के अनुसार किसी एक विषय का अभ्यास करते रहना चाहिए। यह विषय कोई कला हो वा विज्ञान, ज्योतिष हो या रसायनशास्त्र, कोई हो उसे यदि प्रेमपूर्वक अपनाया जाय तो वह हमारे आनंद का कारण होगा। यदि कहा जाय कि इस संसार में सर्वत्र सुख ही भरा है तो कुछ बाधा नहीं। परंतु कभी कभी हमें दुःख, चिंता और कष्ट होने की भी संभावना है। ऐसा समय यदि प्राप्त हुआ तो जिस विषय में अपना मन तल्लीन हो जाता है उस विषय में मन को लगा देने से उस दुःख का थोड़ा बहुत विस्मरण हो ही जायगा। यह कुछ कम लाभ नहीं है।

विद्या से जो मन संस्कृत हो गया है वही ज्ञानामृत को यथेच्छा पी सकता है और वही अपने बुद्धि-बल का भली भाँति उपयोग कर सकता है। उसे अपने निकट की वस्तुओं

से, प्राकृतिक पदार्थों से, कला-कुशलता से, किसी पराक्रम से की हुई वीरता से, कवि की चतुराई से, इतिहास की कथाओं से, मानव जाति के भूत, भविष्य और वर्त्तमान आचार विचारों से तथा उनके विषय के भविष्यत् में होनेवाली अवस्था के अनुमानों से असीम आनंद होता है। "अपनी जिज्ञासा-बुद्धि की तृप्ति के परे यदि इन आनंदकारी विषयों में हमारा मन नहीं लगा तो इस विषय में ज्ञान का हमें कुछ भी अंश प्राप्त न होगा, हमें उसके विषय में उदासीन ही रह जाना पड़ेगा।"

देश में कला-कौशल की जितनी वृद्धि होगी, पुस्तकें जितनी सस्ती मिलेंगी और विना मूल्य दिए पढ़ने के लिये जितने पुस्तकालय बढ़ेंगे उतनेही लोगों के मन संस्कृत होकर सुधरेंगे, यह आशा की जाय तो अयोग्य न होगा। इस प्रकार विद्यादान करने से लोगों का अज्ञान-जनित दुःख और दरिद्रता नष्ट होकर उनका जीवन सुखमय हो जायगा। लोगों में यदि ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा और प्रेम पैदा करते बना तो उसके पीछे ज्ञान रक्खा ही हुआ है। इसलिये बालकों को इस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए कि वनोपवनों में चलते समय भी उन्हें आनंद हो। प्राकृतिक पदार्थ-विद्या के अनुसार वे कोई बात ढूँढ कर निकालें तो उसका उन्हें सदा कौतुक मालूम हो, अपने देश के इतिहास और काव्य का उन्हें अभिमान हो और उनमें उनके मन तल्लीन हो जाँय। तात्पर्य यह है कि हमारी पाठशालाएँ

केवल नामधारी न हों। उनके द्वारा ऊपर कहा हुआ हेतु सफल हो; वे शिक्षा के नीरस स्थल न हों। वहाँ जो शिक्षा प्राप्त हो वह ऐसी होनी चाहिए कि उससे लड़कों के मनों को योग्य संस्कार प्राप्त हों और जिस बुद्धि के लाभ से छोटे से बड़े तक, रंक से राव तक सब को सुख और आनंद होता है उसकी योग्यता मालूम होने लगे और उस का योग्य उपभोग किया जा सके।

उत्तम शिक्षा-प्रणाली से कम से कम यह तो मालूम ही होगा कि हमारा अज्ञान किस हद्द तक है और अभी हमको कितना सीखना है। जो लोग इस जीवन-यात्रा से ऊब जाते हैं उन्हें इस शिक्षा-परिपाटी से यह मालूम हो जायगा कि हमें अपने स्वतः के दोषों के कारण जीवन नीरस दिखलाई पड़ता है और यह बात उनके अनुभव में आवेगी कि ज्ञान मनुष्य के लिये सुख और सामर्थ्य का कारण है। ऐसी उत्तम शिक्षा से शांत और निश्चल विद्या के अनुशीलन के समय से हमें सत्यदेव का सुंदर दर्शन होगा और जहाँ एक बार इस देव की सहायता हमें मिली तो फिर हमारे आनंद का क्या कहना है? वह असीम हो जायगा? इस प्रकार आनंद का लाभ करने के लिये ही परमेश्वर ने हमें जन्म देकर शरीर, संपत्ति, शक्ति और समय इतने जो अमूल्य पदार्थ दिए हैं उनकी योग्यता समझ में आवेगी और हम इस कृपा के लिये उस परमात्मा के अत्यंत ऋणी हैं, यह बात हमारे अंतःकरण पर अंकित हो जायगी।

११—आदर्श आकांक्षा ।

हे मन ! सज्जन ! कर वही, जातें यश रहि जाय ।
चंदन देह घिसाय निज, पर तन देइ बसाय ॥

—रामदास ।

इस संसार में बहुत से बड़े बड़े लोग हो गए। उनमें से अधिकांश लोगों में यदि कोई बुराई थी तो वह महत्व की तृष्णा दिखाई देगी। किसी बात की अभिलाषा होना कुछ बुरी बात नहीं है; परंतु सुमार्ग से यदि उसकी पूर्ति की जाय तो वह हमारे सद्गुणों में वृद्धि करनेवाली होगी। सिसरो ने अपने निज के विषय में कहा है—"विभव और सद्गुण प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य सदा करता रहे। केवल इच्छा ही करके वह न रह जाय, उसे समझना चाहिए कि यही मेरे जन्म की सार्थकता है। उसके संपादन करने में उसे चाहे कितनी ही शारीरिक क्षति सहनी पड़े, देश-निकाला सहना पड़े और चाहे मृत्यु भी आ जाय तो भी वह इन सब आपत्तियों को तुच्छ समझ कर अपने अंतिम उद्देश्य के पालन में जुटा रहे। यदि यह सिद्धांत ग्रंथों के अवलोकन और बुद्धिमान लोगों के उपदेशों से बालपन ही में मेरे हृदय पर अंकित न हुआ होता तो मैं इतने वादविवाद और दुष्ट लोगों से नित्य के झगड़ों से निबटने में कदापि समर्थ न हो सकता।"

सब ग्रंथों का तात्पर्य यही है और समझदार लोगों का उपदेश भी ऐसा ही है। राजकवि टेनिसन ने लिखा है—बहुत से लोग किसी एक काम को हाथ में लेकर फँस जाते हैं और किसी किसी को सिद्धि मिलती चली जाती है परंतु जिनमें योग्यता है उन्हें संपूर्ण नहीं तो भी यश की थोड़ी बहुत प्राप्ति अवश्य होती है। युद्ध में, वाद में अथवा व्यवहार में सच्चाई और खुले चित्त से बर्ताव करने में अपनी शक्ति भर यत्न करने पर भी यदि यश न मिले तो नीच उपायों से कार्य सिद्ध करके नामवरी पाने की अपेक्षा सिद्धि न मिलना ही श्रेष्ठ है। ऐसे समय में धीरज न छोड़ना चाहिए। जब तक इच्छित हेतु सिद्ध न हो जाय तब तक उसे सिद्ध करने की अभिलाषा रखना कोई दुर्गुण नहीं है क्योंकि बड़े काम में कामयाबी न होना छोटे काम में यश प्राप्त करने की बराबरी नहीं कर सकता। यदि मनुष्य सावधानी के साथ ध्यान देकर कार्य करे तो उससे उसके भाग्य का उदय अवश्य होगा। क्योंकि दैव यद्यपि अंधा है तथापि वह सब को दिखता है। हमें जो कुछ करने की इच्छा होती है उसे खूब सोच समझ कर करने का उचित समय हाथ से जाने न दिया जाय तो यश लाभ होने की बहुत संभावना है।

अपने समय को अच्छे कामों में लगाना भी नाम कमाने का एक मार्ग है और उचित समय को हाथ से न जाने देना तो यश की कुंजी ही है। जब नेपोलियन मांटिबेलो की लड़ाई में

आठ सौ सवार लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ा था उस समय उसने केलरमन को एक सेकंड भी देर न करके चढ़ जाने की आज्ञा दी। हल्ला बड़े जोर से किया गया और इन सवारों ने शत्रु की पलटनों के ६ हज़ार सिपाहियों को घास की तरह काट डाला। कारण इतना ही हुआ कि शत्रु का रिसाला घमासान की जगह से केवल आधी मील दूर था और उसे आने में केवल पाव घड़ी लगती, परंतु ऐसे परीक्षा के समय की पाव घड़ी इतनी मूल्यवान् होती है कि जय अथवा पराजय मिलना उसी पाव घड़ी पर निर्भर होता है। यही बात जीवन-संग्राम के लिये भी ठीक होती है। ऐसे समय में जान बचा कर काम करना उचित नहीं होता। चाहे प्राणों पर आ बीते तो भी मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। कहा है कि—

उदारस्य तृणं वित्तं, शूरस्य मरणं तृणम्।

—भर्तृहरि।

अर्थात्—वीर पुरुष के लिये मृत्यु तिनके के समान तुच्छ होती है जैसे दानी के लिये धन। जब हम अपने कार्य में मग्न हो जाते हैं तब जनापवाद अथवा शारीरिक दुःख हम भूल जाते हैं।

जब हम किसी काम के लिये तैयार हों तब हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि हमें क्या लाभ होगा? उस काम में लगनेवाले श्रम और खर्च का पूरा विचार करके फिर उस में हाथ डालना चाहिए। एक बार जब उस काम के करने का

निश्चय कर लिया जाय, फिर उससे विमुख होना सर्वथा अनुचित होगा। कैसी ही आपत्ति आवे, कैसे ही दुःख उठाने पड़ें तथापि हतोत्साह नहीं होना चाहिए। क्योंकि—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमंति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजंति॥

—भर्तृहरि।

भावार्थ—विघ्नों के भय से जो लोग किसी कार्य को आरंभ ही नहीं करते वे नीचे दर्जे के लोग हैं। जो लोग आरंभ तो कर देते हैं परंतु विघ्नों के कारण बीच ही में छोड़ बैठते हैं वे मध्यम पुरुष हैं। परंतु बार बार विघ्नों के आघात होते हुए भी जो लोग आरंभ किए हुए कार्य को पूरा किए विना नहीं छोड़ते वे उत्तम पुरुष हैं।

सब लोग अभ्युदय की आकांक्षा करते हैं परंतु सच्चे अभ्युदय की आदर्श कल्पना क्या है? बहुत से लोगों में जो महती आकांक्षा होती है उसका सत्य रूप सिकंदर के चरित्र से मालूम हो सकता है। सिकंदर की यह अभिलाषा नहीं थी कि बड़ा भारी विस्तृत राज्य हो और फिर उस पर हुकूमत की जाय। उसे केवल एक ही बात की धुन सवार थी कि बहुत से राज्य जीत लिए जाँय। जब कभी उसका पिता फिलिप किसी एक नगर को क़ब्ज़े में कर लेता या किसी

युद्ध में विजय प्राप्त करता तो उसका समाचार सुन कर सिकंदर कहता था कि मेरे पिता एक के बाद एक देश फ़तह करते जाते हैं फिर मुझे विजय करने के लिये क्या शेष रह जायगा ? जब वह देखता कि मैं एक दुनिया भी अपने अधीन नहीं कर सकता और आकाश की ओर देख कर कहता कि ये तो अनंत जगत् हैं तब वह निराश होकर दुःखी हो जाता था। ऐसी महती आकांक्षा कभी पूरी नहीं हो सकती। औरों के सुख की परवाह न करके अपनी ही महत्ता बढ़ाने की सिकंदर की आकांक्षा त्याज्य है। उसका बुद्धिमान लोगों ने निषेध किया है।

हमारा भाग्य किस प्रकार उदय होगा, हमारा अभ्युदय कैसे होगा, इस चिंता में यदि मनुष्य पचता रहे तो उसका समय व्यर्थ नष्ट होकर उसके जन्म का कोई उपयोग न होगा। फिर यदि उस अकेले का भाग्य फला फूला तो क्या उसका जीवन सफल हो जायगा ? नहीं। मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि उसको जन्म इस लिये मिला है कि वह आत्मोन्नति करे। शरीर का पराक्रम उसका अंतिम उद्देश्य नहीं है।

मिथ्या यश और झूठी नामवरी पर मनुष्य को मोहित नहीं होना चाहिए। संसार में हमारे नाम की स्मृति रह जाने से हम कीर्तिवान् हो गए, यह कोई निश्चित बात नहीं है। यश और अपयश ये दो वस्तुएँ दुनिया में हैं परंतु दुर्दैव-वश जितने यशवंत लोग हो गए उनसे कहीं अधिक बुरा

नाम कमानेवाले हो गए हैं और कितने ही लोग तो ऐसे हुए जो नामवरी और बदनामी दोनों सिर पर लेकर चले गए।

यह कौन न कहेगा कि कंस, दुर्योधन, दुःशासन, नीरो या कमोडस, जॉन या तीसरा रिचर्ड इन महा क्रूर और दुष्ट पुरुषों की कीर्ति के समान नामवरी प्राप्त करने की अपेक्षा हमारा नाम संसार में अज्ञात ही रह जाय तो भला है? इतिहास में अपकीर्ति के साथ प्रसिद्ध होने की अपेक्षा सत्कार्य में जीवन व्यतीत करके अज्ञात रह कर मरना अधिक अच्छा है। राज-घराने में जन्म पा कर पेशवा रघुनाथराव की पत्नी आनंदीबाई के समान राज्य के लोभ से अपने भतीजे नारायणराव पेशवा को मरवा कर कलंक लेनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा ग़रीब गृहों में जन्म लेकर अपने पति के घर में कुटुंब-सेवा और पतिव्रत धर्म में शांतिमय जीवन व्यतीत करके अज्ञात रह कर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनेवाली स्त्रियाँ कहीं भाग्यवती और कीर्तिशा-लिनी समझी जानी चाहिएँ।

जिन लोगों ने अच्छे काम करके परोपकार में अपने शरीरों को लगाया है वे ही यश के योग्य हैं। महात्मा बुद्ध, तुलसी-दास, रामदास, विवेकानंद इत्यादि महा उपकारी आत्माओं ने इतिहास को उज्वल कर दिया है। राजनीति-विशारद तथा वीर पुरुषों की कीर्त्ति उनके जीवन-काल में ही रहती है, उनका नाम सबके मुँह से सुना जाता है, उनके काम, उनके

रहन सहन की लोग चर्चा करते रहते हैं परंतु उनके नाम जगत् में बहुत दिन नहीं टिकते। सच्ची, अमर और चिरस्थायिनी कीर्ति साधु लोग, महात्मा पुरुष, ज्ञानी और कवि की माननी चाहिए। महाकवि कालिदास, शेक्सपियर, बाल्मीकि, होमर, व्यास, प्लेटो आदि के जीवनचरित्र उनके ग्रंथों में भरे पड़े हैं, काल की उलट पलट से बाधा न पानेवाले उनके विचार और सत्य के तत्व अमर हैं। इसी कारण उन्होंने जगत् पर अनंत उपकार कर छोड़े हैं। इस परोपकार बुद्धि का स्मरण करके लोग उनका नाम भूले नहीं हैं। हमें वे प्रत्यक्ष हमारे साथ रहते हुए मालूम होते हैं और आज भी वे अपने परोपकार का काम, शिक्षा का कार्य और उपदेश की परंपरा का व्यवसाय करते हुए प्रतीत होते हैं।

संत जगत् के परम गुरु, परहित व्रत को धारि।
देह खपावैं नित्य वे, जग कल्याण विचारि॥
भूत दया पूँजी बड़ी, नहिं ममता निज देह।
तुकाराम आराम है, पर सुख में सुख नेह॥
जब बोलें मुख खोलि के, स्रवत सुधारस ज्ञान।
इन लच्छन संतन लखहु, उनकी यह पहिचान॥

—तुकाराम।

महात्माओं के स्मारक तो बने बनाए हैं परंतु राजनीतिज्ञ पुरुषों के स्मारक यदि न बनाए जाँय तो उनको जल्द भूल जाँयगे क्योंकि उनका नाम शीघ्र नष्ट हो जाता है। कवि जनों

की कविता ही उनके स्मारक हैं, उनके लिये मंदिर या छत्री बनाने की आवश्यकता नहीं है।

संसार पर विजय प्राप्त करनेवाले वे लोग हैं जो ज्ञानवान् हैं, योद्धा नहीं। महम्मद गोरी, अकबर अथवा सिकंदर ने सचमुच दिग्विजय नहीं की, रामकृष्ण परमहंस, रामदास, तुकाराम, गौतम बुद्ध और प्लेटो तथा भगवान् श्रीकृष्ण संसार के सच्चे स्वामी हैं। जिन राजाओं ने हमारे पूर्वजों पर राज्य किया उनका नाम तक नहीं रहा। जिन थोड़े लोगों की कीर्ति बनी हुई है वह केवल किसी न किसी अलौकिक काव्यकर्ता कवि के कारण अथवा किसी महानुभाव महात्मा के सत्समागम के कारण बची है। कालिदास के नाम पर भोज, व्यास के कारण युधिष्ठिर अब तक भी प्रसिद्ध हैं। ऐसे महात्मा लोग अपने समय की संतान में ही जीवित नहीं रह गए किंतु सब समय में सब युगों में वे जीवित हैं। यही कारण है कि उनके चरित्रों का अंत नहीं है। बड़े बड़े राजदरबारों के राजकाजधुरंधर प्रधान और मंत्री लोगों का तो नाम तक नहीं रहता। बेकन नाम का एक व्यक्ति न्यायाधीश था वह ज्ञानवान् पुरुषों में श्रेष्ठ गिना जाता है। बेकन की "ज्ञान की प्रगति" का यह प्रभाव है कि युरोप खंड आज तक भौतिक उन्नति में अग्रसर हो रहा है। परंतु—

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां।
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया॥

स्मृतिमपि न ते यांति क्ष्मापा विना यदनुग्रहम् ।
प्रकृति महते कुर्मस्तस्मै नमः कवि कर्मणे ॥

—सुभाषित ।

भावार्थ—जिनकी बलशाली भुजाओं के वृक्षों की छाया में यह संपूर्ण पृथ्वी एक समय निर्भय हो गई थी ऐसे बड़े बड़े शूर वीर राजा लोग इस भूमंडल पर हो चुके हैं, उनकी केवल स्मृति भी जिसकी कृपा के विना नहीं होती ऐसी प्रकृति-पूज्य उस कवि-कृति को प्रणाम है !

चंदबरदाई न होते तो क्या पृथ्वीराज चौहान का यश जगत् में जीवित रह सकता था ? कविराज मुरारीदीन का यशवंत यशोभूषण नामक ग्रंथ उसी बात का प्रमाण है । सारांश यही है कि बड़े बड़े प्रतापी योद्धा और चक्रवर्ती राजा अपने अलौकिक गुणों से कीर्ति पाते हैं परंतु जब तक कोई प्रतिभा-वान् कवि अथवा इतिहास-लेखक उसे अपनी लेखनी द्वारा वर्णित न करे तब तक वह अजरामर नहीं हो सकती ।

किस कुल में कौन कुल का उद्धारक पैदा होगा इसका कोई नियम नहीं है क्योंकि बहुत से महापुरुषों ने सामान्य कुलों में जन्म पाया था । कभी कभी तो अप्रसिद्ध कुल में जन्म होने से ही अधिक कीर्ति हो जाती है । होमर के जन्मस्थान का अब तक पता नहीं है इसलिये ७ नगरों में आपस में यह विवाद है कि हमें उस पश्चिमी आद्यकवि के जन्मस्थानी होने का सौभाग्य प्राप्त है । प्राकृतिक विज्ञान-वेत्ताओं के विषय में ही

पूछिए तो देखिए कितनी विचित्रता दिखाई देती है। रे लुहार का लड़का था, वॉट सुनार का, फ्रांकलिन मोमबत्ती बनानेवाले का, डाल्टन जुलाहे का, लापलेस किसान का, फॅरेडे लोहे का काम करनेवाले का, लामार्क एक अहलकार का पुत्र था, स्टिफंसन कोयले की खान में काम करता था, ह्विटस्टोन सारंगी बनानेवाला था। उसी तरह गल्लीलिओ, केप्लर, कुविअर और हर्शल इत्यादि सब बड़े बड़े वैज्ञानिक ग़रीब गृहो में जन्मे थे।

एक बात बड़े खेद की है। मनुष्य जाति के हित करनेवाले कितने ही महात्माओं के नाम नष्ट हो गए हैं। वैदिक काल में अग्नि उत्पन्न करने की क्रिया का पता जिसने लगाया वह कौन पुरुष था? भिन्न भिन्न लिपियों के चलानेवालों के नाम कहाँ हैं?

भारतवर्ष में कितने ही नामवर विज्ञान-वेत्ताओं के नाम चिरजीवी हैं। ज्योतिष के आचार्य सूर्यसिद्धांत के कर्ता आर्यभट्ट, व्याकरण के कर्ता पाणिनी, वेदांत-रहस्यों के ज्ञाता व्यास, सांख्य-तत्वों के कर्ता जैमिनी, नाट्य शास्त्र के आचार्य भरतमुनि, शिल्प-शास्त्र का विज्ञाता मय और आधुनिक समय में वैज्ञानिक बोस, चित्रकार रविवर्मा, मूर्तिकार म्हात्रे, टाइपफाउंड्रीवाला भिसे, ये सब भारतवर्ष का मुख उज्वल कर रहे हैं। महाकवि कालिदास और संस्कृत के नवरत्न समाज की उन्नति और सभ्यता के बनानेवाले हो गए। उधर

पश्चिम में बेकन, हाब्स, लॉक, बर्क्ले, ह्यूम, हेमिल्टन मानसिक उन्नति के सहायक हो गए। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम का पता लगाया, अडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र की नींव डाली, यंग ने प्रकाश की गति को नापा, हर्शेल ने यूरेनस गृह का पता चलाया, वुस्टर, ट्रेवेथिक और वॅाट ने भाप का यंत्र तैयार किया, ह्विट्स्टोन ने तार का यंत्र निकाला, जेनर ने चेचक के रोग की रोक की, सिम्सन ने क्लोरोफार्म का उपयोग बतलाया और डार्विन ने आधुनिक प्राणिशास्त्र को उदित किया।

इन महाविभूतियों ने मनुष्य के आचार और विचारों को शिक्षा दी है। जब वे जीवित थे तब कदाचित् उनका नाम उतना प्रसिद्ध नहीं था किंतु आज वे हमारे सत्ताधीश हैं, स्वामी हैं, मालिक हैं, गुरु हैं। उन लोगों की आदर्श आकांक्षाएँ निज के क्षुद्र हित के लिये नहीं थीं। उन्होंने जो कार्य किया उसमें अपना अर्थ लाभ नहीं सोचा। केवल मनुष्य जाति का उपकार करने की महती आकांक्षा से उनके यत्न हुए थे और यही आदर्श जीवन का हेतु है।

१२—संपत्ति ।

न्याय से जोड़ा हुआ धन धर्म में जिसका लगा ।
आत्म-सुख वह पा गया औ भाग्य भी उसका जगा ।
होता नहीं कोई धनी करके कमाई पाप की ।
मलिन मन जलता सदा है आग में संताप की ॥

धन-प्राप्ति की अभिलाषा भी बड़ी आकांक्षाओं में से एक है। ऐसे बहुत मनुष्य मिलेंगे जिन्होंने कभी कोई हुनर अथवा विद्या नहीं सीखी, परंतु अपना पेट पालने के लिये जिसने द्रव्य के उपार्जन के अर्थ यत्न नहीं किया, ऐसा मनुष्य संसार में मिलना कठिन है। इस लिये लोग द्रव्यार्जन करते हुए दिखाई देते हैं। यदि जीवनयात्रा के लिये कुछ न कुछ धन की आवश्यकता होती ही है तो हमें चाहिए कि हम अपनी आय बढ़ाने का यत्न अवश्य करें। उससे हमारा काम चलेगा, इतना ही नहीं किंतु व्यवहार में उससे हमें यश लाभ होगा और वह यश-लाभ हमारे संतोष का कारण होगा।

संपत्तिमान होना सुख का मूल है अथवा नहीं, यह प्रश्न बहुत लोग करते हैं। तत्वतः देखा जाय तो यह बात निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि जो लोग श्रीमानों के घरों में जन्म लेकर जन्म से ही श्रीमान् होते हैं वे सब अवश्यमेव सुखी

होंगे। क्योंकि ग़रीबी में जिस प्रकार धन की प्राप्ति के लिये श्रम करना पड़ता है उसी प्रकार अमीरी में भी धनार्जन के लिये श्रम करना होता है। इसके अतिरिक्त ग़रीब की अपेक्षा धनी को अधिक चिंता लगी रहती है। भेद केवल इतना ही है कि ग़रीब के सुख दुःख और तरह के होते हैं और धनी के और प्रकार के। संपत्ति के साथ अधिक झंझट और चिंता लगी हुई है, इसमें संदेह नहीं, तथापि किसी की आय यदि थोड़ी है और वह उसमें क्रमशः वृद्धि करता जाय तो उससे उसे आराम मिलता है। परंतु यदि हम अपने धन के गुलाम बन जाँय और धन हमारा मालिक बन जाय तो हमारी अवस्था कृपण के समान हो जायगी।

धनवान् होने से सर्वदा ही हमारा भला होगा, यह बात निश्चित नहीं है। जिस किसी के पास धन होता है उसे अधिक ही धन पाने की इच्छा होती है। इमरसन ने लिखा है कि "धनहीन मनुष्य धनवान् बनने की इच्छा करता है और जैसे जैसे वह धनी होता जाता है, तैसे तैसे वह अधिक धन कमाने की लालसा करता है। जिस प्रकार मद्य पीने से प्यास बढ़ती है वैसे ही धन की प्राप्ति के साथ साथ अधिक धन पाने की हबस बढ़ती जाती है। पैसे का सच्चा उपयोग क्या है इस बात को न विचार कर, धन संग्रह करने की बलवती इच्छा से उसका संचय करते जाने से धन-तृष्णा का व्यसन अधिक दृढ़ हो जाता है।"

धन कमाना सहज है परंतु कमाए हुए धन को रक्षित रखना या उसका यथायोग्य उपयोग करना उतना सहज नहीं है। धन की रक्षा करना बड़ा क्लेशदायी है और उससे मनस्ताप होता है। उसे कोई छीन तो न लेगा, चुरा तो न लेगा, वह नष्ट तो नहीं हो जायगा आदि विवेचनाओं में जन्म के दिन दुःख में बीतते हैं। चिंता की आग बहुत क्लेश देनेवाली होती है। उसके विषय में एक कवि ने कहा है कि—

चिंता ज्वाल शरीर वन, दावानल लगि जाय।
प्रगट धुँआ नहिं देखिए, उर अंतर धुँधुवाय।
उर अंतर धुँधुवाय, जरै ज्यों काँच कि भट्टी।
जरि गौ लोहू मास, रह गई हाड़ कि टट्टी॥

सेनेका ने एपिशियस की एक कहानी लिखी है। एपिशियस के पास उसके पूर्वजों का कमाया हुआ बहुत धन था। उसने उसमें से मन माना उड़ाया तो भी उसके पास ढाई लाख मुहरें बची थीं। परंतु इस भय से कि उनका भी नाश होकर मुझे भूखों मरने का समय आवेगा, उसने आत्महत्या कर ली। इस कारण धन का आनंद तकियों पर लेटे हुए निश्चित होकर लेने योग्य नहीं है।

जनयंत्यर्जने दुःखं, तापयंति विपत्तिषु।
मोहयंति समृद्धौ च, कथमर्थाः, सुखावहाः॥

—सुभाषित।

भाव—अर्जन में दुःख, विपत्ति में क्लेश, समृद्धि में मद

उत्पन्न करनेवाला धन कैसे सुख का देनेवाला कहा जा सकता है ?

"मेरे मित्र मुझे कहते हैं कि तुम धन कमाओ जिससे हम भी लाभ उठा सकें" परंतु मित्रो ! मुझे ऐसा मार्ग बतलाइए कि मैं संपत्ति प्राप्त कर सकूँ और साथ ही मिताचारी, गर्वहीन, सत्यभाषी और उदारचरित भी बना रहूँ। ऐसा मार्ग ज्ञात कर मैं धनार्जन के लिये तैयार हूँ । परंतु तुच्छ धन के लिये यदि मैं अपने सद्गुणों को तज दूँ तो वह मुझ से नहीं होगा। तुम्हें धन चाहिए अथवा गर्वहीन और सच्चा मित्र चाहिए ? जिस किसी ने इन सब बातों पर भली तरह विचार किया है उसके लिये आनंदित रहने में, बड़ी से बड़ी आपत्ति सह लेने में, जो बात अवश्य होनेवाली है उसकी राह देखने में और जो बन चुकी उसे सह लेने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। निर्धन दशा में रह कर भी आनंदपूर्वक किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए, यह बात मैं तुम्हें बतलाऊँगा फिर तुम्हें धन-हीनता का भय मालूम नहीं होगा।

क्रीसस नामक राजा को अपने धन का बड़ा गर्व था। उसे सोलन नामक तत्वज्ञ ने उपदेश किया कि "ऐ भाई ! इस संपदा का गर्व तू मत कर! क्योंकि जिस किसी के पास तेरी तलवार से अधिक तेज़ तलवार होगी वह तेरी संपत्ति का मालिक बन सकता है !" लक्ष्मी का नाम ही चपला और चंचला है !

आपद्‌गतं हससि किं? द्रविणांध मूढ !
लक्ष्मी स्थिरा न भवतीति किमत्र चित्रं ॥
एतान्न पश्यसि घटान् जलयंत्रचक्रे ।
रिक्ता भवंति भरिता, भरिताश्च रिक्ताः ॥

—सुभाषित ।

भाव—अरे ! धन के मद से बुद्धि-भ्रष्ट मूर्ख ! दूसरे को आफ़त में फँसा हुआ देख कर हँसी मत कर ! लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती, इस में कोई अनोखी बात नहीं है। इस रहट पर बँधे हुए घड़ों की ओर क्यों नहीं देखता ? देख तो सही कि भरे हुए घड़े ख़ाली होते जाते हैं और ख़ाली भरते चले जाते हैं।

मीडियस की कथा कहते हैं कि उसने देवों की कृपा से एक वर माँग लिया कि मैं जिस चीज़ को छूलूँ वह सोना बन जाय। देव ने कहा, तथास्तु। अब क्या था, उसने खाने के लिये रोटी को हाथ लगाया वह सोना बन गई। लेटने के लिये बिछौने को छुआ तो वह भी सोना बन गया। जहाँ वह स्पर्श करता वहाँ सुवर्ण बन जाता। अंत में उसे अपना जीवन दुःख-मय हो गया। इस तरह अपार कोष को प्राप्त करके भी बहुत से लोग दुःखी होकर चले गए।

धन की समृद्धि पर यदि उसका उपयोग अच्छे कामों में किया जाय तो वह हितकारी होता है, नहीं तो उससे मनुष्य को कुछ भी लाभ नहीं है। ज्ञान, बल, कौशल और सौंदर्य के

विषय में भी यही कहा जा सकता है। यदि इन गुणों के होते हुए हम उनका अच्छा उपयोग न कर सकें तो उनके होने की अपेक्षा न होना ही भला है। जिसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि अपनी संपत्ति का विनियोग किस प्रकार करना चाहिए वह उसके होते हुए भी सुख नहीं पाता। धन के होने से हम समय निकाल सकते हैं, निःसहायों की सहायता कर सकते हैं, ग्रंथों के प्रचार एवं कलाओं की उन्नति में हाथ बँटा सकते हैं और यात्रा के आनंद का लाभ उठा सकते हैं।

धन के होते सब कुछ सुलभ हो जाता है, इस लिये धन पास होना अथवा धन पाने का यत्न करना अनुचित नहीं है। क्योंकि—

धन ही सेवा करत हैं, निज रक्षक की आप।
घर बैठे सब काम हों, नहीं किसी की दाप॥
बन गिरि सागर पार हू, होय वस्तु अनमोल।
मोल ताहि लेवे धनी, दाम गाँठ सो खोल॥

—तुकाराम।

परंतु धन ही के पीछे सब कुछ खो बैठना बड़ी भूल है। धन का उचित से अधिक महत्व समझ कर उसके उपार्जन में जितना कष्ट लोग उठाते हैं उतना कष्ट करने योग्य वस्तु वह नहीं है। यदि हमारे पास धन है तो हम उससे सांसारिक सुविधा, गाड़ी, घोड़े, नौकर चाकर इत्यादि रख सकते हैं और इस प्रकार अन्य व्यवसाय के लिये हमें समय मिल सकता है।

इस लिये यदि अन्य प्रकार से समय मिलता हो तो धन प्राप्त करने के लिये उसका व्यय करना बड़ी ग़लती है। एक बात और है, धन की अधिकता से मनुष्य का मन दुर्बल होता है परंतु इतने ही कारण से उसे त्याग देने योग्य मानना भी भूल है। तत्वतः देखा जाय तो जितने पदार्थ लाभदायक माने जाते हैं उनमें कुछ न कुछ दोष अवश्य ही होता है। संपत्ति के लाभों में मित्रलाभ बड़ा लाभ है, दूसरा लाभ अधिकारलाभ है। धनी मनुष्यों को स्वयं कुछ अधिकार प्राप्त हो जाते हैं।

किसी ने कहा है कि मुझे धन से कुछ बड़ी प्रीति नहीं थी; परंतु जब मेरे निर्वाह मात्र के लायक़ धन मिलता तब मुझे कुछ कम सुविधा मालूम होती और मेरी आधी बुद्धि मुझे छोड़ जाती थी।

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मंदविभवस्य।
घृतलवणतैलतंडुलवस्त्रैंधनचिंतया सततम्॥

—हितोपदेश।

भाव—यद्यपि मनुष्य बुद्धिमान है, विपुलमति है तथापि उसका धन नष्ट हो जाने पर नोन तेल इत्यादि की चिंता में उसकी विशाल बुद्धि नष्ट हो जाती है।

शेली ने लिखा है कि मैं जानता हूँ कि धन का उपयोग कैसे करना चाहिए इसलिये मैं धन-प्राप्ति की इच्छा करता हूँ, क्योंकि धन की सहायता से मुझे समय मिलता और उससे उद्यम हो सकता है और जो लोग फ़ुर्सत होने से ज्ञान के

प्रसार का काम करते हों उन सज्जनों को भी मैं अपना समय दे सकता हूँ।

एक रोज़नामचे में लिखा है-"आज मैं अपने बाल बच्चों सहित अपनी निज की बग्घी में बैठ कर हवाखोरी के लिये गया था, यह ईश्वर की बड़ी कृपा है। ईश्वर ने मुझे यह सुख दिया, मैंने ईश्वर के चरणों में प्रार्थना की कि इसी प्रकार की संपन्न दशा बनी रहे।"

ऐसे बहुत से धनी होंगे जिन्हें सब प्रकार के सुख और साधन प्राप्त होंगे परंतु वे ईश्वर की कृतज्ञता नहीं मानते होंगे। उनके व्यवहार सत्य न होंगे, सचाई का व्यापार न होगा तो उन्हें अपनी संपत्ति बनाए रखना बड़ा कठिन है।

धन-लोभी की इच्छा इतनी ही होती है कि मेरे पास बहुत धन का संचय हो। सूम धन को देख कर ही संतुष्ट होता है परंतु यह लालच उसे धन का उपयोग नहीं करने देता और धन के होते हुए भी सूम दरिद्र रहता है। अर्थात् ये धन-लोभी लोग सर्वदा दुखी और दीन दशा में रहते हैं।

विचारपूर्वक देखा जाय तो हम अपने आपको जितना धनी और मालदार समझते हैं उससे कहीं बड़े धनी और संपत्ति-मान हम हैं। हमें जागीर प्राप्त नहीं है इससे हम जागीरदारी की ईर्ष्या करते हैं, मत्सर भाव से उसे देखते हैं। हमें जलन होती है कि हमें वह चीज़ प्राप्त नहीं है जो उस मनुष्य के पास है और यह मनोरथ होता है कि हमें भी ऐसी जायदाद और

ऐश्वर्य मिले तो हम सुखी हों। परंतु यदि मान लिया जाय कि हम बड़ी जागीर के मालिक हो गए तब भी वह ज़मीन हमें अपना दास बना लेगी । क्योंकि ऐसी संपति पास होते ही उसके संबंध की चिंता, कष्ट और मनस्ताप हमें सताये बिना न छोड़ेंगे। किंचित् तत्व की दृष्टि से देखा जाय तो क्या हम लाखों बीघे ज़मीन के मालिक नहीं हैं? बड़े बड़े मैदान, मार्ग, पगडंडी, समुद्र का किनारा, जंगल, पहाड़ ये सब अपने हैं, मनुष्यमात्र के लिये ईश्वर ने इन्हें बनाया है। समुद्र का किनारा हमें दो बड़े लाभ कराता है। प्रथम तो इसे जैसा ईश्वर ने बनाया है उसी प्राकृतिक अवस्था में होने से वह किसी के बदलने से बदला नहीं जा सकता, इससे हम उसका स्वाभाविक रूप में आनंद प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे प्राकृतिक महाशक्ति का प्रत्यक्ष परिचय हमें वहीं पर होता है। विशाल, विस्तीर्ण, प्रशांत महोदधि अपनी आँखों के सामने ईश्वर की अनंतता का परिचय करावेगा। वहाँ यह भाव सर्वथा उदित न होगा कि मैं संपत्तिहीन हूँ किंतु ईश्वरी प्रकृति का देखनेवाला मालिक हूँ, संपन्न हूँ। यदि विवेक हो तो यह मालूम होगा कि मैं बड़ा जागीरदार हूँ। मुझे ज़मीन की कमी नहीं है, कमी सिर्फ़ इस बात की है कि हमें उसका आनंद लूटना नहीं जानते। मुझे यह ज्ञान नहीं है कि मैं इस पृथ्वी का कैसे उपयोग करें। इस जगद्व्यापिनी धरा देवी की व्यवस्था के संबंध में जागीरदार की भाँति मुझे नित्य की खटखट नहीं

है। जिसके आँखें हैं वह इस ज़मीन के दृश्य को देख कर उसका आनंद लाभ करेगा। जो जंगल हैं वे हमारे बाग़ बगीचे हैं। उन पर हमारा स्वत्व नहीं है तथापि हज़ारों लोग उनको काम में लाते हैं, उनमें रह कर उनका उपभोग करते हैं और आनंद उठाते हैं। क्या वे अपने नहीं हैं?

धन की तृष्णा के विषय में एक आधुनिक कवि ने लिखा है—

दौलत जो तेरे पास है रख याद तू ये बात।
खा तू भी और कर खुदा की राह में खैरात॥
देने से इसी के तेरा ऊँचा रहेगा हात।
और याँ भी तेरी गुज़रेगी सौ ऐश से औक़ात॥
और वाँ भी तुझे सैर ये दिखलायगी बाबा॥ १॥
यह तो किसी के पास रही है न रहेगी।
जो और से करती रही तुझ से भी करेगी॥
कुछ शक नहीं इसमें जो बढ़ी है वह घटेगी।
जब तक तू जियेगा तुझे वह चैन न देगी॥
और मरते हुए फिर ये ग़ज़ब लायगी बाबा॥ २॥

—नज़ीर।

१३—स्वास्थ्य-सुख।

धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलमुक्तं कलेवरम्।
तच्च सर्वार्थसंसिद्ध्यै भवेद्यदि निरामयं॥

—भावप्रकाश।

भाव—यह शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का मुख्य साधन है, यदि यह आरोग्ययुक्त हो तो सब कार्यों की सिद्धि का हेतु होता है।

धन के होने या न होने से हमें सुख मिल सकता है या नहीं, इस बात में दो मत हों तो भले ही हों परंतु नीरोगता के विषय में मत-भेद होने की संभावना नहीं है। मनुष्य के लिये प्रथम आरोग्यता, फिर सुंदरता, उसके बाद सुनीति के मार्ग से उपार्जन किया हुआ धन और सन्मित्रों के समागम में अपनी युवावस्था की आयु व्यतीत करने का आनंद प्राप्त होना सांसारिक सुख की चरम सीमा है। यदि शारीरिक स्वास्थ्य न हो तो मनुष्य को अपना जीवन भार के समान कठिन हो जाता है। आरोग्य होने से सारी आयु सुख और आनंद में बीतती है। एंपिडाक्लिज़ ने एक बड़े दलदल को सुखा कर उससे पैदा होनेवाले रोगों से सेलिनस नामक नगर के निवासियों को बचाया, इस कारण वहाँ के लोग उसे देवता के समान मानते थे।

वैद्य, हकीम या डाक्टर के हम पर कितने बड़े उपकार होते हैं, इसका ठीक विचार हम अपने मन में नहीं करते। हमारा भारतीय भिषक् शास्त्र सरल होने और इलाज सीधा सादा होने के कारण हमें उसका महत्व मालूम नहीं होता यह हमारी भूल है। जब हम बीमार हो जाते हैं, तब तुरंत वैद्यराज को बुलवाते हैं। वे हमारा इलाज करते हैं और हम चंगे हो जाते हैं और रोग-हर्ता को कुछ पुरस्कार देकर उसके उपकार से अंशतः मुक्त होते हैं। कितने ही लोगों की यह कल्पना है कि रोग और शरीर-पीड़ा भूत पिशाचों की अप्रसन्नता के कारण होती है, ऐसे लोगों में वैद्य सच्चा नहीं होता। जो कोई जादू टोना जानता है वह "स्याना" समझा जाता है। वह मंत्र के बल से रोग हटाने का यत्न करता है।

कितने ही देशों में रोगी को औषधि न देकर उन स्यानों के बनाए हुए मंत्रित यंत्रों को धोकर पानी पिला देते हैं। कहीं कहीं तो रोगी के बदले हकीम ही दवा पी लेता है। परंतु यह व्यवस्था दो चार रोगियों के लिये हो सकती है। अगर झुंड के झुंड रोगी ऐसे वैद्य के पास नित्य पहुँचें तो ग़रीब का पेट औषधियों के मारे फट जाय। चीनी लोगों में एक विचित्र प्रथा है कि जब तक घर में आरोग्यता है, वैद्यराज का बेतन बराबर दिया जाता है और घर में बीमारी आते ही वह बेतन बंद कर दिया जाता है। प्राचीन समय में मिसर देश के लोगों में ऐसी प्रथा थी कि प्रथम कुछ दिनों तक रोगी

के यहाँ हकीम जी का निर्वाह होता था और फिर रोगी जब तक चंगा न हो जाय तब तक रोगी का निर्वाह हकीम जी को करना पड़ता था। इसमें संदेह नहीं कि रोगी के लिये हकीम जी के यहाँ का भोजन पथ्य होगा परंतु कभी कभी अगर रोगी के बहुत दिनों तक महिमान बनने की संभावना हो तो हकीम जी कोई तीव्र अथवा घोर उपाय का अवलंबन भी कर सकते हैं।

यद्यपि यह बात निर्विवाद है कि वैद्य से हमें बहुत लाभ पहुँचता है तथापि आरोग्यता का पालन स्वतः मनुष्य अपने आप जितना करेगा उतना वैद्य या हकीम द्वारा होना कठिन है। यद्यपि सब लोग स्वास्थ्य को अनमोल समझते हैं तथापि उसके प्राप्त करने के हेतु बहुत ही थोड़े लोग यत्न करते हैं। उसके लिये थोड़ा भी ख़र्च उठाने को लोग तैयार नहीं होते। कितने तो ऐसे हैं जो जान बूझ कर अकाल मृत्यु अथवा बुढ़ापे को निमंत्रण देकर बुलाते हैं।

कितने ही लोगों की जन्म से ऐसी दशा रहती है कि वे नीरोग नहीं रहने पाते। पोप कवि जन्म से ही इतना रुग्ण था कि वह कहता था कि मेरा जीवन ही एक बड़ा रोग है। कितने ही ऐसे कहनेवाले हैं कि देह की बाधाओं के लिये ही हमारा जीवन है। परंतु ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं। यदि हम चाहें तो बहुधा निरोग ही रह सकते हैं। जब हम बीमार हो जाते हैं तब उसके कारण बहुधा हम स्वयं ही होते हैं। जो

करना उचित नहीं उसके करने से और जो करना उचित है उसके न करने से हम बीमार हो जाते हैं और फिर आश्चर्य करते हैं कि हम क्यों बीमार हुए। किसी दैवी उपाय से हम नीरोग हो जाँयगे, इस आशा से हम छोटे छोटे उपाय नहीं करते और यद्यपि यह जानते हैं कि हम चाहे जब बीमार हो सकते हैं तथापि इस बात को हम भूल जाते हैं कि अपनी तन-दुरुस्ती क़ायम रखना अपने ही हाथ में है। हमारी देह की बाधाओं का भोग हमारे ही कर्मों का फल है।

हमारे युवा लोगों के दिलों पर आरोग्यता का महत्व भली तरह अंकित किया जाता है या नहीं, इसमें संदेह है। इसका यह मतलब नहीं है कि क्षुद्र बीमारियों को बड़ा बना कर अपना मन व्यथित किया जाय या दिन रात डाक्टरी की पुस्तकें ही पढ़ी जाँय या दवा ही खाई जाय। ऐसी कल्पना न की जाय कि हम बीमार हैं और मामूली बीमारी की तरफ़ कम ध्यान दिया जाय तो हमारी आरोग्यता में कुछ अंतर नहीं हो सकता।

यदि हम बीमारी की हालत में हैं तो हमें उदासचित्त नहीं रहना चाहिए। यह समझ कर कि हमें एक ही रोग हुआ है, अनेक नहीं, हमें दुःख में सुख मानना चाहिए। सिडनी स्मिथ की सदा आनंद की वृत्ति रहती थी। उसने एक बार अपने मित्र को लिखा कि मुझे संधिवात, राजयक्ष्मा और अन्य सात बीमारियाँ हैं; वैसे मैं अच्छा हूँ। निरंतर बीमार रहनेवाले

लोगों में से वहुधा लोग सिडनी स्मिथ की भाँति अपनी आनंद की वृत्ति क़ायम रख कर दुःख का भोग कर लेते हैं। किसी किसी को अपना चित्त एकाग्र और शांत करके इतना दृढ़ बनाना आता है कि अत्यंत कठिन दुःख भी वह सह लेता है। जिसे अपने मन पर अधिकार प्राप्त है वह अपने जीवन के छोटे छोटे दुःखों की परवाह तक नहीं करता। ऐसे मनुष्यों के चित्तों को यद्यपि चिंता सताती हो या उनके शरीरों को क्लेश होते हों यथापि वे अपना मन शांत रख कर सब दुःख सह लेते हैं।

यूनानी लोगों में एक कहानी प्रचलित है कि मेलीगर नामक एक मनुष्य को ऐसा वरदान था कि लकड़ी का एक खास टुकड़ा जितने दिन टिकेगा, उसे मृत्यु नहीं सतावेगी। इस कारण उसकी माता ने उस लकड़ी के टुकड़े को बहुत सम्हाल कर रक्खा था और मेलीग्रर बहुत समय तक जीवित रहा था। जिस शरीर के स्वास्थ्य पर हमारे सुख दुःख निर्भर हैं उसकी सम्हाल यदि की जाय तो सुख की कमी न होगी। फिर भी हम उसके लिये यत्न नहीं करते यह आश्चर्य है।

सादा जीवनक्रम, नियमित आहार व्यवहार, नित्य का व्यायाम, स्वच्छता इत्यादि उपायों से आरोग्यता की रक्षा होती है। शराब पीने से क्या क्या घोरतर परिणाम होते हैं उनके यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं। अनियमित खान पान से

शरीर की आरोग्यता बिगड़ जाती है, यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए। मंदाग्नि के रोग से बहुत से लोग पीड़ित रहते हैं परंतु इनमें से सैकड़ा पीछे नब्बे लोग स्वयं ही उसके अपराधी हैं। अनियमित भोजन और शारीरिक श्रमों के न करने से यह रोग उन पर सवार हो जाता है। यदि तुम्हें दीर्घायु होने की इच्छा है तो अल्पाहार का सेवन करो। सादी वृत्ति और निर्दोष जीवन-परिपाटी के अनुसार चल कर उच्च विचारों में अपना समय व्यतीत करो। साधारणतः रोग-हीन मनुष्य यदि मिताहारी है तो फिर इस बात की तलाश करने का कोई कारण नहीं है कि वह क्या खाता है और क्या नहीं खाता।

ग्लैडस्टोन साहब की आश्चर्यान्वित करनेवाली शरीरशक्ति जगत्प्रसिद्ध है। उन्हें वह शक्ति क्यों कर मिली थी, उसका हाल उन्होंने स्वयं कहा है। एक ग्रास लेकर उसे २५ बार जब तक न चबा लिया जाय तब तक उसे निगलना नहीं चाहिए, यह उनका बालाभ्यास था। यही कारण है कि वे वृद्ध हो गए तब तक भी उनका शरीर बलवान् और नीरोग था। एक अनुभवी मनुष्य ने लिखा है—"दावत या भोज में खाने के लिये जाने का निमंत्रण आवे तो स्वीकार करो, जाओ परंतु भोजन इस प्रकार हाथ सम्हाल कर करो कि भोजन के पश्चात् भूख बनी रहे।"

खान पान में परिमितता रखना कहने को सहज है परंतु

करने को बहुत कठिन है। आज तक हज़ारों लोगों ने भूख से अधिक खा कर प्राणों से हाथ धोए हैं। मिताहारी को नियमित खाने से जो सुख अंत तक होता है वह तृप्तिहीन और मद्यपान करनेवाले को कदापि न होगा सर्वदा हुतभुक्, मितभुक् और अशाकभुक् रहना आरोग्यता की जड़ है। खूब हवाखोरी करके आने के पश्चात् मिताहार करने से जो आनंद और संतोष होता है वह राजघर में क़ीमती पक्वान्नों के भोजन से कहीं बढ़कर है। खान पान से मिलनेवाला सुख मानसिक और आत्मिक सुख की अपेक्षा यद्यपि कम दर्जे का है तथापि उसका शरीर से संबंध है और शरीर बलवान् होगा तो मानसिक क्रियाएँ भी व्यवस्थित होंगी, इससे वह मिथ्या सुख नहीं कहा जा सकता।

भोजन के समय आनंदित वृत्ति रखना, हास्य, विनोद करना, ईश्वर नाम का बार बार उच्चारण करना इत्यादि बातें स्वयं आनंददायक होकर स्वास्थ्य की सहायक हैं। भूख के कारण भोजन विशेष स्वादिष्ट मालूम होता है और अच्छी भूख लगने पर भोजन के समय यदि कोई मीठी और मनोहर बातें कहे तो बहुत लोग उन्हें पसंद करेंगे। जिस प्रकार नोन के बिना भोजन सलोना नहीं बनता उसी प्रकार विनोद-रहित भाषण अथवा लेख मज़ा नहीं देता। रूखे काव्य, नाटक, उपन्यास चाहे ज्ञान से भरे ही क्यों न हों तो भी वे आनंददायी न होंगे।

विनोद वह वस्तु है जो उत्तम संस्कृत बुद्धि को प्रगट करती है। ग्राम्य, अश्लील और घृणास्पद विनोद यद्यपि घड़ी भर हँसावेगा तथापि उससे मन की सौंदर्यबुद्धि, सभ्यता का भाव अपमानित होगा। वीभत्स रस अवश्य मनोरंजन करता है परंतु वह विनोद का उत्तम अंग नहीं कहा जा सकता। विनोद, बुद्धि की चतुरता और मन की संस्कृतता का परिपाक हो तो वह उन्नत, सभ्यताशील और साधु हृदयों को भी आह्लाद देनेवाला होगा। उत्तर भारत में भाँड़ों के तमाशे की प्रथा है; वह ग्राम्य शृंगार और अश्लील वीभत्स रस का नमूना है। उसके सुनने से संस्कृत मन को घृणा और लज्जा उत्पन्न होती है। ऐसा विनोद सभ्य समाज में होना सर्वथा अनुचित है।

विनोद के द्वारा कभी कभी बड़े बड़े कलह मिट जाते हैं। शेक्सपियर के ग्रंथों के नामवर टीकाकार हॅजलिट ने लिखा है कि जिस दिन हमें हँसी न आई हो वह दिन बड़ा मनहूस समझना चाहिए। यह बहुत सत्य है। ग्रंथावलोकन, चटपटे लेख, नाटक, विनोदी वक्ता का भाषण, मित्र समागम, घर की प्रिया का आनंद और हास्य विलास से भरी हुई वाक्पटुता ये सब ऐसे साधन हैं जिनसे मनुष्य दिल खोल कर हँस सकता है। बड़े बड़े राजा महाराजाओं के पास मस-खरे इसी कारण रक्खे जाते हैं कि उनके हँसोड़ स्वभाव से उनके मालिक का चित्त प्रसन्न रहे; दुःख, शोक चिंता

मग्न होकर उनकी वृत्ति आनंद भरी हो जाय। विनोदी मनुष्य को अपने निज के हँसोड़पन पर बहुत क़ाबू रखना पड़ता है। वह खुद तो हँसे नहीं किंतु औरों को हँसावे तो अधिक उत्तम परिणाम होता है। अपने विनोद से एक आदमी हँसने लगा कि तुरंत ही दूसरा आदमी हँसने लगता है। इस प्रकार विनोद करनेवाला स्वयं ही विनोदी नहीं रह जाता किंतु औरों को भी अपना सा बना लेता है।

बच्चे और बड़े भी गुदगुदी करने से हँसते हैं। हँसना बहुत लाभदायक है। यदि कृत्रिम उपायों से भी अर्थात् केवल शरीर को सुखदायक परंतु अनोखे स्पर्श सुख को पैदा करने-वाला होने से भी वह उत्पन्न हो तो अच्छा है।

जो लोग नगरों में रहते हैं उन्हें चाहिए कि जितना समय मिल सके खुली हवा में जाकर उसे व्यतीत करने का नियम करें। शरीर के नीरोग रहने के लिये ताजी हवा के समान कोई दूसरी दवा नहीं है। इँगलैंड में जो सब से पुराने पुराने घराने अब तक बने हैं वे सब गाँवों में रहनेवालों के हैं। जो लोग केवल घर ही में बैठे पढ़ने लिखने में अपना समय बिताते हैं, नदी के किनारे, पहाड़ों या जंगलों में अथवा खेतों में घूमने नहीं जाते वे शरीर नीरोग रखने का अपना कर्तव्य पूरा नहीं करते।

भारतवर्ष के लोगों को खुली हवा में रहने का महत्व ही नहीं मालूम है। यहाँ का एक यात्री इँगलैंड में पहुँचा। उसने

एक दिन कुछ अंग्रेजों को खुले मैदान में गेंद बल्ला खेलतें देखा। उसने पूछा—"ये कौन लोग हैं ?" किसी ने कहा "ये सब धड़े बड़े रईस और लार्ड हैं।" तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"ये लोग वेतन देकर खेलनेवाले लोग क्यों नहीं रखते !!!" सुननेवाला हँसा और उत्तर न देकर चला गया। इँगलैंड के बहुधा सब लोगों को खुली हवा में खेलने की बड़ी रुचि है, किसी किसी को शिकार का भी शौक़ होता है।

वर्डस्वर्थ नामक कवि का नियम था कि वह प्रति दिन बाहर वायु-सेवन के लिये जाता था। वह कहा करता कि हवा चाहे जितनी बुरी क्यों न हो, मैं उसकी परवाह न करके बाहर घूमने जाता हूँ। इससे मुझे कभी बुखार नहीं आया और न कभी मुझे डाक्टर को बुलवाने की ज़रूरत पड़ी।

घर में बैठे झरोखे से देखने से पानी बहुत बरसता हुआ दिखाई देता है परंतु बाहर निकल कर चलने में वह कम लगता है। उसी प्रकार जाड़ा भी घर में दबे लोगों को अधिक दबाता है परंतु वर्षा हो अथवा जाड़ा, घर से बाहर निकल कर खुली हवा में जाने से नूतन सुखदायक वायु से शरीर में फुर्ती और मन को आह्लाद होता है, क्योंकि वृक्षों की तरह मनुष्यों का जीवन बहुधा हवा ही पर निर्भर है।

जिस समय आसमान स्वच्छ होता है, चारों ओर पक्षी गण गाते हुए सुनाई पड़ते हैं, भूमि पर फूलों की कलियाँ

खिलती हैं उस समय घोड़े पर सवार होकर अथवा पैदल वायु-सेवन के लिये घूमने जाने या नाव में बैठ कर नदी पर या समुद्र की सैर करने के समान शरीर के लिये लाभदायक कोई अन्य उपाय नहीं है।

छोटे बालकों को जन्म ही से जो खेलने का स्वभाव होता है वह उनके शरीर के लिये अत्यंत गुणकारी होता है। हमारे यहाँ खेल और अभ्यास का योग्य मेल शालाओं की शिक्षा में नहीं पाया जाता, शिक्षा-परिपाटी में यह बड़ी त्रुटि है। गेंद बल्ला या गुल्ली डंडा खेलना या नाव में बैठ कर घूमना इत्यादि खेलों से बालकों को बड़ा आनंद होता है। वे सचमुच उनके लिये एक उत्तम दवा ही हैं।

किसी महत्व के विचार में अथवा अत्यंत उद्वेगजनक चिंता में हमें नींद नहीं आती शरीर के रोगी रहते हुए हमें प्रगाढ़ और शांत निद्रा नहीं लगती। परंतु यदि खुले वायुमंडल में हम निकल जाँय और खूब घूम आवें तो हमारा शरीर फुर्तीला, प्रसन्न और नीरोग होगा और निद्रा के समय गहरी नींद आवेगी। जिस समय वनों में, उपवनों में, उद्यानों में और सरोवरों में सब तरह के फूल अपने जीवनदाता भगवान् मरीचिमाली सूर्यनारायण के दर्शनों के हेतु अपने मुख खोल कर आनंद में खिल जाते हैं उस प्रातःकाल की प्राकृतिक सुखमा का आनंद वेही लोग उठाते हैं जो प्रातवायु सेवन करने के लिये बाहर घूमने जाते हैं।

बहुत से निवृत्ति मार्ग के अभिमानी लोग शरीर को नश्वर समझ कर तुच्छ और व्यर्थ समझते हैं, परंतु उनका यह विचार एकदेशीय है। यद्यपि वह चिरस्थायी नहीं है तथापि उसकी योग्यता और महत्व कुछ कम नहीं है। विचार किया जाय कि जिस अभागे मनुष्य के आँखें नहीं होतीं, जो जन्मांध होता है उसे प्रत्यक्ष अपनी आँखों से विश्व के सौंदर्य के दर्शन का लाभ क्योंकर प्राप्त हो सकता है? किसी के कर्णेंद्रिय नहीं है तो वह संगीत के मधुर आलाप के श्रवण से वंचित रह जाता है। जिन हाथों से विश्वकर्मा की कृति को मात करनेवाले चित्रकार, मूर्तिकार, यंत्रकार और उद्यानकार अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा अद्भुत वस्तुएँ निर्माण करते हैं क्या वे हाथ चूमने योग्य नहीं हैं? जिन पैरों से चल कर हम जगत् के सौंदर्य-भवनों का, तीर्थों का और प्राकृतिक सुंदर स्थलों का दर्शन करते हैं क्या वे पैर कुछ काम की चीज़ नहीं हैं? शरीर का एक एक अवयव घड़ी के पुर्ज़ों के समान उपयोगिता और हेतु से बनाया गया है। प्रकृति देवी की रचना के नियम निरर्थकता से दूर हैं। उनमें किसी वस्तु की व्यवस्था में अतिरेक अथवा न्यूनता नहीं रक्खी है किंतु समता, व्यवस्थितता और नियतता का प्रत्यय भरा हुआ है। हमारे शरीर की रचना इतनी नाज़ुक, अलौकिक और सूक्ष्म है कि हमारा इतने समय तक जीवित रहना ही आश्चर्य है। हमारे शरीर के कितने ही अवयव और इंद्रियाँ अपने अपने कार्य एक ही दिन नहीं किंतु बरसों तक

इस नियमितता के साथ करती हैं कि हमें उनके व्यापारों का कार्य चलते रहने का भान तक नहीं रहता। हमारा शरीर एक जीवित यंत्र है और उसकी रचना और व्यवस्थित चाल का अनुभव करके यही कहना पड़ता है कि वह अद्भुत महत्व की वस्तु है।

हमारे इस शरीर के अस्थिपिंजर में छोटी बड़ी अनेक आकार की दो सौ से अधिक * हड्डियाँ हैं । उन्हें थोड़ी सी चोट भी पहुँच जाय तो हमारे चलने फिरने में बाधा हो जाती है। इस शरीर में पाँच सौ से अधिक स्नायु हैं और उन्हें कार्य प्रवाहित करानेवाली अनंत रुधिराभिसरण करनेवाली नसें हैं । हमारे स्नायुओं का केंद्र अर्थात् हृदय एक साल में ३ करोड़ बार धड़कता है। इस दिल की हरकत के बंद होते ही जीवन की समाप्ति हो जाती है। शरीर की त्वचा की बनावट भी बड़ी आश्चर्यजनक है । जिनमें से पसीना निकलता है ऐसे बीस लाख छिद्र हैं । वे शरीर की गर्मी क़ायम रखते हैं । इन छिद्रों से त्वचा की ऊपरी सतह तक संबंध करानेवाली रक्तवाहिनी नसों की लंबाई पाँच मील होगी। आँख की रचना को देखिए। उसकी पुतली, दर्पण सा काँच और उससे सम्मिलित नसों का ध्यान कीजिए । वह नेत्र-दर्पण कागज़ के समान पतला है और उसके नौ पर्दे हैं। उनमें से सब से आख़ीर का पर्दा ३ करोड़

* चरक में उनकी संख्या ३६० मानी गई है।

रेखाओं और ३० लाख नुकीले मांस-पिंडों से बना है। इससे भी आश्चर्यजनक मनुष्य की मज्जा है। इसमें जो सफ़ेद द्रव्य है उसमें ६० करोड़ घर हैं और हर एक घर में सैकड़ों दृश्यमान् कण हैं जो लाखों अणुओं से बने हैं।

इस प्रकार विचित्र और सूक्ष्म बने हुए शरीर की यदि योग्य चिंता की जाय और उसे स्वच्छ और नीरोग रख कर उसके कार्य व्यवस्थित रूप से जारी रक्खे जाँय तो हमें किसी प्रकार का कष्ट न होगा, हमारी शांति भंग न होगी। इस प्रकार उसकी रक्षा बहुत समय तक की जा सकेगी।

१४—प्रेम ।

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा ।
यत्र द्रवत्यंतरंगं स स्नेह इति कथ्यते ॥

—सुभाषित ।

जहाँ दर्शन, स्पर्श, श्रवण और भाषण में अंतःकरण प्रेममय हो जाता है उसी को स्नेह कहते हैं ।

प्रेम हमारे जन्म का सार है । हमारे सुख दुःख का यदि कोई प्रेमी हिस्सेदार न हो तो हम किसी बात का पूरी तरह आनंद नहीं उठा सकते । हम अकेले हों तो भी आगे किसी पर कदाचित् हम प्रेम करेंगे, ऐसा समझ कर उसके लिये सुख के साधन संग्रह कर रखते हैं । चाहे हम छोटे हों या बड़े, श्रीमान् हों या निर्धन, किसी न किसी पर हम प्रेम अवश्य ही करते हैं । छोटेपन में माता पिता पर, जवानी में प्रिय पत्नी पर, बुढ़ापे में लड़कों पर और सदा सर्वदा भाई बहिन और आत्म जनों पर हम प्रेम करते हैं, यह सब कोई जानता है । हम अपने मित्रों पर कितना प्रेम करते हैं ? वह प्रेम कभी कभी स्त्रियों के प्रेम से भी अधिक दृढ़ होता है ।

माता पिता का अपने बालकों पर जो प्रेम होता है उससे परमेश्वर के प्रेम का साम्य किया गया है । तुकाराम ने लिखा है कि—

अपने जीवन का उपाय जाने क्या बालक।
चिंता रखते जननि-जनक जो हैं प्रतिपालक॥
अनायास वह भोजन पाता खेल कूद कर।
निज रक्षा का भार नहीं रहता कुछ उस पर॥
रक्षा माता पिता प्रेम के वश करते हैं।
प्रभु का पल्ला यही समझ कर हम धरते हैं॥

ल्यूक्ट्रा की लड़ाई में विजयलाभ पाने पर एप्यामिनियांडाज़ ने कहा—"यह विजयवार्ता सुन कर मेरे माता-पिता को बहुत ही संतोष होगा। इस कारण मुझे अधिक हर्ष होता है।"

हम कई जानवरों पर भी प्रेम करते हैं। जिस स्वर्ग में सब एक से गिने जाते हैं वहाँ मृत्यु के पश्चात् अपने साथ अपने कुत्ते को भी जगह मिलेगी, यह कल्पना कई जाति के लोगों में है, उससे उनकी प्रेमवृत्ति को देख हमें आश्चर्य होना चाहिए। हमारे साथ हमारा कुत्ता स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा सकता, यह देख स्वर्ग का त्याग करने पर उतारू होनेवाले धर्मराज की कथा महाभारत में हृदय को आश्चर्यान्वित करनेवाली है।

अपने सुख के लिये अथवा दिल बहलाव के लिये बड़े जानवरों को ही नहीं परंच जिन्हें दुःख देने से वे दुःखी होते हैं ऐसे क्षुद्र जंतुओं को भी दुःख देना पाप है, यह बात जिस प्रकार "अहिंसा परमो धर्मः" वाक्य में कही है वह विचार और मनन करने योग्य है। छोटे छोटे जीव मार्ग की धूलि के पर-

माणुओं में भी सने हुए हैं, यह जान कर करुणामय अंतःकरण से चलनेवाले अपने पैर बहुत बचा कर और सम्हाल कर रखते हैं, वे मार्ग को करुणामय बनाते, दिशाओं को स्नेहपूर्ण करते और अपने जीवों का औरों के सुख के लिये बिछौना बनाते हैं। परंतु यह प्रेम विश्वव्यापी है। यहाँ केवल पति-पत्नी प्रेम अथवा स्त्री-पुरुष प्रेम का ही ज़िकर है। ब्राउन साहब का कथन है कि "स्त्री पुरुषों के बीच के प्रेम की सुंदरता सब तंतु-वाद्यों की मधुर ध्वनि से भी मधुरतर है। प्रेम के कारण स्त्रियाँ अथवा पुरुष अपने प्रियतम के लिये मरने को तैयार हो जाते हैं। यूनान में आलेस्टीज़ नामक एक स्त्री हो गई है। वह अपने पति के लिये प्राणदान देने को तैयार हुई। उसके पति के गोत्र के माँ बाप इत्यादि वर्तमान थे किंतु उनमें से कोई प्राणों का उपहार न कर सका परंतु इस स्त्री का प्रेम कुछ ऐसा विलक्षण था कि उसके आगे पिता और माता का प्रेम और पुत्र-प्रेम निस्तेज हो गया और वे केवल नाम-धारी आप्त प्रतीत हुए। इस स्त्री का पातिव्रत गुण देवताओं और मनुष्यों को बड़ा ही प्रिय हुआ। देवों ने प्रसन्न हो कर उसे फिर से पृथ्वी पर आने की आज्ञा की। ऐसी आज्ञा कदाचित् ही किसी स्त्री को कभी मिली होगी। देवों ने उसके अलौकिक पति-प्रेम और सद्गुणों पर मोहित हो उसका गौरव किया। भारतवर्ष में भी जो स्त्रियाँ सती हुई हैं, उन्हें लोग पूज्य मानते हैं।

प्रेम से मनुष्यों के मन निर्मल होकर पवित्र होते हैं। उनकी कठोरता कम होकर वे परस्पर प्रेम करते हैं। शत्रुत्व नष्ट करके वे मित्र होते हैं। प्रेम सज्जनों का आनंद, बुद्धिमानों का आश्चर्य और देवों का कौतुक है। प्रेम सबको चाहिए और प्राप्त होने पर वह अमोल मालूम होता है। प्रेम से कोमलता, सुख, इच्छा, ममता, और सौंदर्य आदि गुणों की उत्पत्ति होती है। वह अच्छे को स्वीकार करके बुरे का त्याग करता है। हर एक बात में, कार्य में, इच्छा में वह मार्गदर्शक, साझीदार और सहायक बनता है। प्रेम देवताओं और मनुष्यों का वैभव है। उसके बताए हुए मार्ग से जाना सबके लिये सुखकर है।

प्रेम की उत्पत्ति कैसे हुई इस प्रश्न को हल करने के लिये बुद्धिमान् मनुष्यों ने बहुत परिश्रम किए हैं। प्लेटो का, जिसे अफ़लातून कहते हैं, कथन है कि "बहुत प्राचीन काल में मनुष्य का आकार गोल था। उसकी पीठ और दोनों बाज़ू वर्तुलाकार थे और उसके चार हाथ, चार पाँव, एक सिर और दो मुँह थे। उसकी गर्दन भी उसके शरीर के समान गोल थी। वह खड़ा हो सकता था और इच्छानुसार आगे या पीछे चल सकता था, चार हाथ और चार पाँवों पर कुलाँच मार कर कूद सकता था। उस समय के मनुष्य बड़े बलवान् होते थे और उनकी महत्वकांक्षाएँ भी बहुत बलवती हुआ करती थीं। उन्होंने एक बार देवों पर चढ़ाई करने का निश्चय करके स्वर्ग में चढ़ना आरंभ किया। उस समय देवताओं को यह चिंता

हुई कि जैसे वज्र से राक्षसों का नाश किया गया वैसे ही इन लोगों का भी नाश किया जाना चाहिए, परंतु वैसा करने से देवताओं के नाम से होनेवाले यज्ञ यागादि और पूजा पाठ बंद हो जाँयगे, यह सोच कर वैसा करना उन्हें उचित नहीं मालूम हुआ। अंत में झीअस नामक देवता ने उन मनुष्यों का गर्व हरने का एक उपाय रचा। वह बोला कि मैं इनके दो भाग किए देता हूँ जिससे इनकी शक्ति आधी रह जायगी और अपने नाम से होनेवाले होम हवन भी दुगने होने लगेंगे और ये मनुष्य दो पैरों पर खड़े रह कर चलेंगे। अगर फिर कभी इन्हों ने ऐसा फ़ितूर किया तो फिर उनके हिस्से करके उन्हें उड़ाऊँगा। ऐसा कह कर उसने तत्काल मनुष्यों के शरीर के दो विभाग किए। ये दो भाग एक दूसरे के सहवास की इच्छा करते हैं। एक को जब दूसरा मिलता है तो तत्काल वे दोनों भाग प्रेमबद्ध हो जाते हैं। एक पल भर भी वे परस्पर दूर होना नहीं चाहते। ये दोनों भाग जन्म भर एकत्र रहते हैं। वे एक दूसरे की इच्छा क्यों करते हैं, यह उनकी समझ में नहीं आता। उनका आपस में जो स्नेहाकर्षण होता है उसका क्या कारण है, इसकी उन्हें स्पष्ट कल्पना नहीं होती।'

ऊपर की कथा सत्य हो अथवा कल्पनामय हो; इतनी बात अवश्य है कि स्त्री पुरुषों में कभी कभी परस्पर दर्शन होते ही एक दूसरे पर इतना दृढ़ स्नेह पैदा हो जाता है कि

वह कभी दूषित नहीं होता और कभी पश्चात्ताप का कारण नहीं होता। दृष्टि पड़ते ही पुरुष अथवा स्त्री का मन एक दूसरे पर मोहित हो जाना अविचार सा मालूम होगा; परंतु सर्वथा यही वात नहीं है। अगर किसी स्त्री पर इस प्रकार एकाएक प्रेम हो जाय तो यही समझना चाहिए कि पूर्व जन्म में उस पर अपना जो प्रेम था वही उदय हुआ। बर्न्स ने भी लिखा है कि जिस स्त्री का और हमार पूर्व जन्म का संबंध होगा उसे देखते ही उस पर हमारी प्रीति उपजेगी और आगे भी यदि हमारा प्रेम वैसा ही बना रहा तो उसमें बिगाड़ पैदा नहीं होगा। दुष्यंत और शकुंतला का उदाहरण इस कथन की पुष्टि करता है।

कई जगह प्रेम की उत्पत्ति बहुत देर में होती है और उसे प्राप्त करने के लिये अपने प्रिय मनुष्य के साथ बहुत दिनों तक एकनिष्ठ होकर रहना पड़ता है। परंतु म्यालोरी का कथन है कि "अत्याचार से किसी का प्रेम किसी पर नहीं पैदा हो सकता। वह तो मनुष्य के हृदय में स्वभाव ही से उपजना चाहिए।"

यद्यपि स्त्री-पुरुष एक दूसरे से दूर हों यदि उनके बीच महासागर भी पड़ा हो तो भी प्रेम इस बात की परवाह नहीं करता।

सेस्टास और अबिडास दोनों शहरों के बीच पहले समुद्र था परंतु ऐसी एक कहानी है कि प्रेम ने अपने एक वाण से

उन्हें मिला दिया था। प्रेम मात्र हो फिर स्त्री-पुरुष कहीं हों, वे सुखी रहते हैं।

एकाकी यदि है प्रिया गुणवती मेरे सदा संग में।
चाहे बास मिले मुझे विजन में मैं हूँ उसी रंग में॥
चाहे ध्यान समस्त और जग का जी में न मेरे रहै।
तो भी क्या परवा मुझे यदि प्रिया-सत्संग-आनंद है॥

—बायरन।

प्रेम ने सब जगह सब समय मनुष्य मात्र को अपने अधीन कर रक्खा है। जिन दिनों देश में लूट मार नहीं होती उन दिनों लोग प्रेम का गौरव गाते हैं और संग्राम के समय प्रेम के लिये अपना सिर हाथ पर धर कर समर-भूमि में प्रवेश करते हैं। प्रेम जैसा ग्रामों में है वैसा ही राज-दरबार में भी है। इस संसार में मनुष्य मात्र में प्रेम है और स्वर्गीय महात्माओं में भी है। कारण, प्रेम ही स्वर्ग और स्वर्ग ही प्रेम है।

हमारे और एशिया के कई देशों के धर्म-विचारों में स्त्री-प्रेम को धिक्कारा गया है परंतु हमारे काव्य और कहावतों में स्त्रियों का इतना कम गौरव नहीं है। भर्तृहरि ने लिखा है—

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ, सत्सुताराराविंदुषु।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत्॥"

अर्थात्—दीप, अग्नि, तारा और सूर्य चंद्र इन सब के प्रकाश करते हुए भी मुझे मृगलोचनी के बिना सब जगत् अंधकारमय हो गया है।

तुर्क लोगों में एक ऐसी कहावत है कि "सब स्त्रियाँ सर्व-गुणोपेता होती हैं, परंतु जिस स्त्री के प्रेम-पाश में हम बद्ध हों उसके गुण वर्णनातीत होते हैं।" पोलिश लोगों में एक कहावत है कि "स्त्री अपने एक केश से जितना भार खींचती है उतना दो बैलों की जोड़ी से भी नहीं खींचा जा सकता।" यह बात एक फ्रेंच रमणी ने अबदुलक़ादिर नामक एक सरदार को कह सुनाई थी। तब वह बोला कि "जब वह काल के समान स्वयं बलवती हो तब उसके केश-पाश की क्या बड़ाई है?"

परंतु रमणी को कृतांत के समान प्रबल न समझ कर हमें उसको सुखदात्री देवी और गृह के आनंद का साधन मानना अधिक योग्य है। क्योंकि प्रेम-निर्झर अत्यंत गूढ़ और गुप्त रीति से हृदय में उत्पन्न होता है।

बेकन ने लिखा है कि मित्र को अपना आनंद जनाने से वह बढ़ता है और उसे अपना दुःख निवेदन करने से दुःख कम होता है। यही नियम अपनी स्त्री के विषय में भी सुष्ठुतया घटित होता है। जिस पत्नी से अपना हार्दिक प्रेम है वह—

प्रिया निकट देख के सकल विश्व होता नया।
मही कुसुमवाटिका, वनलता दिखे स्वर्गिया॥
नवीनदिखता यही सकल दृश्य मानो प्रिया।
प्रवेश करते समै मन सुखी स्वयं हो गया॥—ट्रेंच।

सांसारिक जीवन में मनुष्य को चाहिए कि वह विवेक और सुविचार के साथ प्रेमपूर्वक बर्ताव करे। सुविचार को

छोड़ अकेले प्रेम से अथवा प्रेम को छोड़ निरे सुविचार से मनुष्य में सद्गुणों की उपज नहीं होती। प्रेम का लक्षण यह है कि वह अपने अंतःकरण में उत्तम इच्छाओं का बीज बोए। किसी को अगर ईश्वर से कुछ माँगना है तो उसको चाहिए कि वह केवल प्रेम की भिक्षा माँगे, क्योंकि प्रेम अत्यंत करुणा-मय और अपने लिये बहुत आपत्ति सहनेवाला है। वह विनीत होकर दिए हुए दुःख को भूल जाता है और इतना सहनशील और उदार होने पर भी मृत्यु से अधिक बलवान् है।

किसी प्राचीन ग्रंथकर्ता ने लिखा है कि कवियों ने प्रेम की प्रशंसा बहुत नहीं की है परंतु आधुनिक समय में यह नहीं कहते बनेगा। उलटे प्रेम की प्रशंसा में आधुनिक कवियों ने अपनी प्रसादमयी वाणी से जो उद्गार कहे हैं उनसे प्रेम की श्रेष्ठता व्यक्त होती है।

यह कल्पना कभी मन में लानी नहीं चाहिए कि उत्तम स्त्री की प्राप्ति और उसके समागम में संसार सुखमय न होगा। भाग्यवश अपनी रुचि भिन्न होने के कारण जैसी स्त्री प्राप्त होने की हम इच्छा करते हैं वैसी ही मिलने में कठिनाई न होगी। हमारे यहाँ माता-पिता अपने लड़के लड़कियों के विवाह कर देते हैं तो भी उत्तम पत्नी का लाभ होना कुछ असंभव नहीं है। क्योंकि यदि हम अपनी पत्नी पर प्रेम करेंगे तो वह भी हम पर प्रेम करेगी, क्योंकि प्रेम से प्रेम की वृद्धि होती है। इसलिये जैसे शेक्सपीयर ने कहा है—

प्रिया आई मेरी घर भर उजाला कर दिया।
सुखी मैं हूँ भारी सकल धन मैंने धर लिया॥
न चाहूँ मैं सारा उदधि यदि रत्नादिक भरा।
सुधा की धारा वा कनकगिरि चाहूँ नहिं जरा॥

परस्पर प्रेम करनेवाले दंपति बहुधा विचारशून्य नहीं होते, तो भी कभी उनके प्रेम में व्यत्यय आ जाता है।

इसलिये हमें चाहिए कि हम कोई ऐसा काम न करें जिससे हमारी प्रिय पत्नी के प्रेम को किंचित् भी आघात पहुँचे, क्योंकि यह क्रिया वीणा में पड़नेवाली बारीक तड़क के समान है। वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और वीणा बेसुरी होती जाती है, अंत में वह ध्वनि-रहित हो जाती है। प्रेम अत्यंत कोमल वस्तु है। कलह से वह घायल हो जाती है। कोई तंतुवाद्य सम्हाल कर न बरता जाय तो वह नहीं टिकेगा। वही बात प्रेम की है। जिन्हें नाम नहीं दे सकते और जो स्मरण में भी नही रहतीं, ऐसी क्षुद्र बातों की ओर ध्यान देकर प्रेम-संगोपन किया जाय तो यह जीवन-यात्रा अत्यंत सुखमय होगी।

जो हमारी भार्या है, विवाहित पत्नी है उसके विषय में हमारा विचार ऐसा होना चाहिए जैसा महाभारत में लिखा है—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः।

भवभूति ने उत्तररामचरित में कहा है—

सुख दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम थल।
सब विधि सों अनुकूल, विसद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरसता सकै न हरि, कबहूँ जरठाई।
ज्यों ज्यों बाढ़त सघन, सघन सुंदर सुखदाई॥
ओ अवसर पै संकोच तजि परनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुर्लभ सज्जन-प्रेम अरु बड़भागी कोऊ लहत॥

—सत्यनारायण।

सच्चे प्रेम से मनुष्य का मन उत्कर्ष पाता है। टेनिसन ने कहा है कि "मन में प्रेम का उद्भव न होने की अपेक्षा प्रेम करके अपयश प्राप्त होना भला है।"

स्टील नामक विद्वान् ने एक रमणी इलिज़बेथ हेस्टिंग्स की स्तुति करते हुए कहा था कि इसके समागम का प्राप्त होना मानों उच्च शिक्षा पाना है। इसलिये प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि वह इस बात को सोचे कि ज्यों ज्यों मेरा अंतःकरण सुधरेगा त्यों त्यों मैं अपने और अपने भर्ता के सुख साधन का एक भांडार ही निर्माण करती रहूँगी।

कालक्रम से सच्चा प्रेम इतना बढ़ता है कि अंत में स्त्री-पुरुष यद्यपि बाह्यतः दो शरीर और दो मूर्तियाँ दिखाई पड़ें तथापि वे अंतःकरण में एक रस होते हैं और उनका वियोग कभी होता ही नहीं।

१५–चित्र विद्या।

"इस संसार में जो कुछ मंगलमय, विशुद्ध और रमणीय हो उस पर प्रेम करके, जिसके प्रकाशित सौंदर्य को चित्रकार अपनी ईश्वरदत्त, बुद्धिमत्ता से प्रत्यक्ष कर दिखावे और देखने वाले का मन जिसकी ओर आकर्षित हो जाय उस चातुरी का नाम कला है।"

—रस्किन।

भारतवर्ष में चित्र विद्या बहुत प्राचीन समय से अस्तित्व में है। यहाँ प्रतिमा-पूजन की प्रथा बहुत प्राचीन होने से सुंदर मूर्तिकार और चित्र-लेखक सर्वदा से होते आए हैं। बौद्धकाल में तो इसका परम उत्कर्ष समझना चाहिए क्योंकि भारतवर्ष के कई स्थानों की गुफाओं में जो चित्र और रंगीन काम किए हुए दिखाई देते हैं वे प्राचीन चित्र-कला के जीते जागते उदाहरण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के समय में चित्ररेखा का चित्र-लेखन इतना त्वरितगति और उत्तम था कि उसने उषा को सब राजाओं के चित्र लिख दिखाए और जब उसने इच्छित वर का चित्र लिखा तो वह मोहित हो गई!

खीष्ट शक से बहुत पहले समय में अर्थात् लगभग दो हज़ार बरस पहले असीरिया और मिसर देश में चित्र-कला का बहुत कुछ उदय हुआ था। इस बात का परिचय वहाँ के क़ब्रस्तान

और देवालयों पर खुदे हुए चित्रों से होता है। उन चित्रों में कला की दृष्टि से देखा जाय तो बहुत दोष हैं परंतु उन उपलब्ध चित्रों से उनके लेखकों के समय के लोगों के रीति रिवाज और इतिहास का बहुत कुछ पता चलता है। इन चित्रों में जो युद्ध के चित्र हैं उनमें राजाओं की मूर्तियाँ सिपाहियों की मूर्तियों की अपेक्षा अधिक विशाल दिखाई गई हैं।

इससे यह बात मालूम होती है कि राजा ऐसा पुरुष होता था जो अपने सैनिकों से अत्यंत बलिष्ठ और शारीरिक पुष्टता में बढ़ कर होता था और उसे सब सिपाहियों की अपेक्षा अधिक पराक्रम भी दिखाना पड़ता था। इन चित्रों में राजा, सरदार सिपाहियों के चित्र, विजयी पक्ष, ज़ख़मी और घायल सिपाहियों की वेदना, शत्रु का पराजित होकर भागना इत्यादि प्रसंग बहुत सच्चे और प्रत्यक्ष दिखाए गए हैं। युद्धों के आधुनिक चित्रों में इतना इतिहास-प्रसंग अंकित किया हुआ नहीं होता। जिसे चित्रावलोकन का अभ्यास नहीं है उसे तो चहुँ ओर रंग और धुएँ की भरमार के व्यतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। प्राचीन समय के चित्र यद्यपि आधुनिक समय के चित्रों की अपेक्षा अधिक सुंदर न दिखाई दें तथापि उनका महत्व और उनकी शोभा कुछ कम नहीं है।

यूनान देश में चित्रकला इतनी उन्नत अवस्था को पहुँची थी कि वह उन्नति अभी तक किसी देश में दिखाई नहीं देती।

यूनानी लोगों में चित्रकला की बड़ी चाह थी। जिस समय डेमेट्रिअस ने रोडस नगर पर चढ़ाई की उन दिनों उस शहर में प्रोटोजनीज़ नामक एक चित्रकार चित्र बना रहा था। कदाचित् मेरे हाथ से उस चित्र का नाश हो जायगा इस भय से डेमेट्रिअस ने उस शहर पर विजय प्राप्त करने का विचार छोड़ दिया! इस नगर के निकट एक उद्यान में दूसरा एक चित्रकार जिसका नाम मोटोजनीज़ था, चित्र बनाने में इतना मग्न हो जाता था कि वह सेना की गड़बड़ से किंचित भी भग्नचित्त नहीं होता। डेमेट्रिअस ने उससे पूछा कि—"तुम शत्रु-सेना के बीच अपना काम क्यों कर निश्चित होकर करते हो?" उसने उत्तर दिया—"मैं समझता हूँ कि तुम्हारा युद्ध रोडस के लोगों से है, चित्रकला से तुम्हारा युद्ध नहीं है।"

यूनान देश पर आपत्ति का समय आने के कारण वहाँ की कला की अवनति हो गई परंतु १३ वीं शताब्दी में सिमांप्यू ने उसका उद्धार किया। तब से उन्नति ही होती चली आई है।

चित्रकला मानसिक सुख का विशुद्ध साधन है। उसके द्वारा मन और दृष्टि दोनों संस्कारित होते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से फूलों पर सुरंग रंग चढ़ते हैं वैसे ही चित्रकला से हमारा जीवन रँग कर रम्य हो जाता है।

प्लेटो ने कहा है—"जिसमें चित्रकार का हाथ, मन और बुद्धि तन्मय हो जाती है वही सच्ची कला है। उसे फुरसत के

समय अथवा जब और कोई उपयोगी व्यवसाय न हो तब सीखने की किसी को इच्छा हो तो वह व्यर्थ है।" वह बहुत बड़े परिश्रम और दृढ़ अभ्यास से प्राप्त होती है और जो कोई ऐसा अभ्यास करेगा उसे उस विद्या में पारगामी पद प्राप्त होगा या नहीं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।

लोगों की समझ है कि चित्रकला का मुख्य हेतु मनोरंजन है, परंतु यह समझना ठीक नहीं है। मन की समुन्नति और संस्कृति ही चित्रकला का अंतिम हेतु है।

दो मनुष्य लीजिए, एक जंगली और दूसरा नागरिक। इन दोनों की तुलना कीजिए तो आपको जंगली मनुष्य की अपेक्षा नागरिक अधिक सुघड़ और सुंदर दिखाई देगा। क्योंकि मनुष्य की आत्मा दिव्य होने से वह संसार में प्राप्त होनेवाली श्रेष्ठता, उत्तमता और सुंदरता से अधिक बड़ी पूर्णता और विचित्रता प्राप्त करने की इच्छा करती है और यही कारण है कि मनुष्य अपनी कला में पूर्णत्व प्राप्त करने का नित्य यत्न किया करता है।

एक कवि ने एक कथा लिखी है कि एक चित्रकार ने स्वर्गीय देवांगना रंभा का एक चित्र बनाया। उस मूर्ति को देख रंभा बहुत प्रसन्न हुई। उसने चित्रकार से कहा—"इस मूर्ति में जिस पूर्णता की कमी है वह मैं स्वर्गलोक से तुझे ला देती हूँ।" चित्रकार ने कहा—"तुम मुझे ही स्वर्ग में ले चलो, मैं पूर्णता की वस्तु स्वयं ही परख लूँगा।" देवी रंभा ने कहा

"ठीक है।" वे दोनों स्वर्गलोक में गए। चित्रकार ने वहाँ दिव्यात्माओं का प्रकाश देख आत्मा रूपी दिव्य वस्तु चुन ली और लौट कर अपनी मूर्ति में आत्मा डाल कर उसे सजीवता प्राप्त करा दी। तात्पर्य इस से इतना ही है कि प्रतिसृष्टि ही नहीं किंतु सृष्टि के सुंदर पदार्थों से भी अधिक सुंदर रचना करने की ओर मनुष्य के मन की दौड़ है। इस लिये कला की श्रेष्ठता सृष्टि से भी श्रेष्ठ कही जा सकती है।

सर जोशुआ रोनल्ड्स का कथन है कि चित्रकार सृष्टि के पदार्थों का यथावत् मनन करके उसका अनुसरण करता है, परंतु सृष्टि-सौंदर्य का ज्यों का त्यों रूप बनाना अथवा नक़ल करना ही कला का हेतु नहीं है किंतु वह उसका साधन मात्र है। असली फलों की तरह फल बना कर चित्रकर्मा ने पक्षियों और मनुष्यों को सच्चे फलों का आभास कराया तो चित्रकला का कुछ अंतिम हेतु सिद्ध नहीं हुआ। किसी चित्रकार ने यदि सुंदर दृश्य का चित्र हूबहू खींच कर दिखाया तो उसकी इतिकर्तव्यता नहीं हो चुकी। उसे कुदरत की नक़ल करते हुए जो बात सृष्टि में नहीं है वह अपनी कल्पना से पैदा करनी चाहिए। बड़े बड़े चित्रकारों का संतोष केवल अनुसरण से नहीं हुआ, उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति से नवीन रचना की है।

ग्वालियर में एक बहुत नामी चित्रकार हो गया है जिसने महाराज सेंधिया के महल चित्रित किए हैं। एक दिन उससे इमारत महकमे के किसी अफ़सर ने कहा—"आप बंबई चल

कर विक्टोरिया गार्डन को एक बार देख आवें तो अनेक प्रकार के फूल और पत्तियों के अनोखे अनोखे नमूने आपके देखने में आवें।" उस पर उस नागपुरवाले मुसव्वर ने उत्तर दिया-"जनाब! मेरी समझ में मुझे बंबई जाने की चंदाँ ज़रूरत नहीं मालूम होती। मेरे ज़ेहन में कुदरत के बेइंतहा नमूने भरे हैं। आप जितने चाहें उतने और वैसे फूल पत्ते उसमें से निकलते हुए देख सकते हैं।" खास इसी बात का प्रत्यक्ष परिचय दिलाने के लिये उस चित्रकार ने एक कमरा चित्रित किया है जिसमें उसने फूल और पक्षियों के हज़ारों नमूने अत्यंत सुंदरता से दीवाल पर बनाए हैं। इस कमरे को "चिड़ियावाला कमरा" कहते हैं जिसे देखकर लोग दंग हो जाते हैं। इसी कमरे में दही की मटकी अपनी गोद में लिए सुनहले बालवाले गोपाललाल का चित्र अद्वितीय है।

गाइडो नामक एक चित्रकार हमारे चित्र-विद्या-निपुण राजा रविवर्मा की भाँति स्त्रियों के चित्र लिखने में अत्यंत कुशल कारीगर था। उसने रोम के एक देवालय में देवदूतों के चित्र बनाए। इन चित्रों के विषय में वह कहता—"अगर मेरे पंख होते तो मैं स्वर्ग को उड़ गया होता और वहाँ देवदूतों का सौंदर्य देखता। परंतु यह बात नहीं हो सकती और इस दुनिया में उस सुंदरता की मूर्ति देखने का कोई साधन न होने से मैंने कल्पना करके ही देवदूतों के चित्र

बनाए हैं।" तात्पर्य यह कि चितेरे को चाहिए कि वह अपने कामों में केवल प्राकृतिक सौंदर्य ही की नक़ल न करे किंतु नई कल्पना करके रचना करे जिससे सचमुच उस विद्या का हेतु सिद्ध हो! प्राकृतिक सौंदर्य और मानसिक कल्पना का जब तक संयोग न होगा कोई उत्तम नमूना बनाना कठिन है।

इस पर यदि कोई कहे कि प्रकृति के सौंदर्य पर निर्भर न करते हुए उस पर भी श्रेष्ठता पाने की अभिलाषा करना शुद्ध बावनकसी सोने पर मुलम्मा चढ़ाने की तरह हास्यास्पद होगा। परंतु इस प्रकार विचार करनेवाले को यह सोचना चाहिए कि चित्रविद्या का प्रधान हेतु मन का विकास और संतोष-प्राप्ति है। सृष्टि की तरफ़ देखा जाय तो उसकी सीमा है और जिस मन की कल्पना के विहार के लिये सीमा नहीं है उसका दृश्य प्राकृतिक सौंदर्य से कैसे संतुष्ट हो सकता है। मन का सम्यक् रूप से समाधान करनेवाली ईश्वर की अनंतता है। इस लिये सीमाबद्ध प्राकृतिक पदार्थों के सौंदर्य से मन की तृप्ति कदापि न होगी।

ताज की मनोहर इमारत देखने से मन को अत्यंत हर्ष होता है। इतना ही नहीं वहाँ यह भावना उत्पन्न होती है कि इसमें कुछ अलौकिकता है। क्या वह संगमरमर, संगमूसा इत्यादि पत्थरों के रूप में कारीगरों की सुंदर कल्पना का ही प्रत्यक्ष रूप नहीं है?

कवि शब्द-चित्रों के कर्ता हैं। चित्रकार अपने चित्रों

द्वारा बोलते हैं परंतु कवि से चित्रकार बढ़कर हैं। क्योंकि चित्रकार का सुंदर चित्र देखते ही उस पदार्थ की जो विशद कल्पना मन में उत्पन्न होती है वैसी कवि के सूक्ष्म और लंबे चौड़े वर्णन से नहीं होती। दूसरे कवि का शब्द-चित्र समझने के लिये उस काव्य की भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। चित्र को समझने के लिये चित्रकार की भाषा समझने की आवश्यकता नहीं। हर एक देश विदेश में चित्र का सौंदर्य दर्शक समझ सकता है। सर फ्रेडरिक लेटन ने कहा है कि इँगलैंड के माल की अपेक्षा अधिक सुंदर माल उपजाने का यत्न अन्य देशीय लोग कर रहे हैं, इसका कारण यही है कि सुंदर वस्तु की चाह सर्वत्र है। इस दृष्टि से देखा जाय तो देश की अधिक उन्नति से सौंदर्य का कितना घनिष्ट संबंध है।

विज्ञान और कला दोनों भाई बहन हैं। क्योंकि कला का काम स्त्रियों के कर्तव्य के समान है। जिस प्रकार रमणी जन संसार के परिश्रमसाध्य काम न करके कम परिश्रम के नाजुक गृह-कर्मों का संपादन करके घर की शोभा बढ़ाती हैं उसी प्रकार कलाओं के साधन से संसार सुंदर और चित्तहारी बन जाता है।

कला के कारण मनुष्य को ज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है। इस संसार में एक विचारवान् पुरुष के पैदा होने से उसके सहारे हज़ारों लोग बोलने लगते हैं, विचार करने लगते हैं। कला

से दो लाभ हैं। एक तो यह कि इस जगत् में जो कुछ भला और बुरा है उसके मार्ग को समझना और दूसरे ऐसी व्यवस्था करना कि उसके देखनेवाले को वह सुंदर दिखाई दे और उसे संतोष प्राप्त हो। उत्तम चित्रकार यही कौशल अपनी विद्या में दिखाता है। यह पहले सृष्टि की भली बुरी वस्तुओं का सत्य स्वरूप अपने मन में लाता हैं फिर अपने चित्र में उसे ऐसे संयोग से रख देता है कि देखनेवाला परितुष्ट होता और उसका ज्ञान लाभ करता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो उन्नत अवस्था को प्राप्त चित्रकला मानों एक सज्जन पुरुष के सुखद जीवन का रूप ही है।

भारतवर्ष में चित्र-विद्या बहुत प्राचीन समय से उन्नति को प्राप्त हो चुकी है। जयपुर और ग्वालियर के मूर्तिकार जगत्-प्रसिद्ध हैं। त्रावणकोर के महाराजा के भाई राजा रविवर्मा ने भारतीय चित्रविद्या में सारे संसार में अग्रसरत्व का मान प्राप्त किया है। श्रीयुक्त म्हात्रे जैसा मूर्तिकार भारतवर्ष के नाम को उज्वल कर रहा है।

तथापि विज्ञान की असीम उन्नति के साथ पाश्चात्य देशों ने जो सुधार किया है उसमें से भारतवर्ष के लिये बहुत सी बातें सीखने योग्य हैं। जर्मनी के सस्ते चित्र यद्यपि रंग में भद्दे और सौंदर्यप्रिय लोगों को पसंद नहीं आते परंतु ग़रीब लोगों की ग्राम्य रुचि के अनुकूल होने से सर्वसाधारण में उनका बड़ा प्रचार है और कोई झोपड़ी ऐसी न होगी जिसमें हिंदू

देवी-देवताओं के चित्रों में से एक न एक चित्र दीवार पर चिपका हुआ न मिले। इससे यह स्पष्ट है कि लोकसमुदाय की रुचि बढ़ती जा रही है, कला के सौंदर्य की रुचि से उनके मन सुसंस्कृत हो जा रहे हैं और साथ ही ज्ञान के लाभ के साथ उन्हें सुख और शांति के उपकरण उपलब्ध होते जाते हैं, यह बड़े आनंद का विषय है।

१६—काव्य ।

कान्पृच्छामः सुरा स्वर्गे, निवसामो वयं भुवि ।
किंवा काव्यरसः स्वादुः; किंवा स्वादीयसी सुधा ॥

—सुभाषित ।

भावार्थ—काव्यरस मधुर है अथवा सुधा उससे अधिक मधुर है, इस बात का निर्णय किससे करावें ? देवों से पूछें तो वे स्वर्ग में निवास करते हैं और हम हैं भूलोक में !

महाकवि भूषण अपनी वीररसात्मक कविता, जो बहुत उत्साह और वीरता पैदा करनेवाली है। जब महाराजा शिवाजी के सैनिकों को समरभूमि पर सुनाता तो वीर लोग प्रोत्साहित होकर लड़ते और यश लाभ करते थे। दिल्लीपति पृथ्वीराज की सेना की पंक्तियों में फिरता हुआ वीर और महाकवि चंदबरदाई अपनी कविता से नया जोश पैदा कराता और कहता कि हे वीरो—

"यदि मरणवश्यमेव जंतोः
किमुत मुधा मलिनं यशः क्रियेत ।"

—हितोपदेश ।

यदि मरण अनिवार्य है तो फिर भगोड़ों की तरह शत्रु को पीठ दिखा कर व्यर्थ अपने नाम को कलंकित क्यों करते हो ?

इस प्रकार की काव्य की महिमा है। वह घरों में, दरबारों

में और रणक्षेत्र में हमारे जीवन को उन्नत करने का साधन बन रही है। जब हम प्रगाढ़ परिश्रम से थक जाते हैं अथवा दुःख और चिंता से विगलित, क्लांत ओर और उदासीन हो जाते हैं उस समय यदि एक मनोहर काव्य पढ़ा या सुनाया जाय तो दुःख का भार क्रमशः कम होकर शरीर में स्फूर्ति आती है और मन की खिन्नता नष्ट हो जाती है।

प्लेटो ने अपने "रिपब्लिक" नामक ग्रंथ में कवि को राज्य की सीमा के वाहर रक्खा है। इसका कारण यह है कि प्लेटो की यह भावना थी कि "कवि के काव्य से इंद्रियों की उत्तेजना और मनोविकारों का क्षोभ होता है और वे अपनी कल्पना की तरंग में सत्य को भूल जाते हैं।" परंतु जिस राज्य में काव्य नहीं वह जीवित नहीं रह सकता। काव्य में अनेक कला और विद्याओं की सहायता और परस्पर संबंध की आवश्यकता होती है। कवि अपने शब्दों से चित्र बनाते हैं, मूर्ति बनाते हैं और बड़े बड़े महल प्रासाद, उद्यान उपवनों के रमणीय वर्णन करते हैं। "काव्य बोलता हुआ चित्र है और चित्र मूक काव्य है।" काव्य में संगीत भी है।

चित्र और काव्य में भेद इतना ही है कि चित्र तो यथावत् स्वरूप वर्णन का दर्शक है और काव्य उसकी कृति और चारित्र्य का दर्शक है। एक वाह्य वर्णनात्मक है, दूसरा आंतरिक सृष्टि का निदर्शक है।

शकुंतला के बाह्य सौंदर्य को देख दुष्यंत के मन में यही

भाव उत्पन्न हुआ कि उस सुंदरी को विधाता ने सिरजने के पहले उसका चित्र चित्रित कर सामने रक्खा होगा। राजा लक्ष्मणसिंह के शब्दों में सुनिए—

पहले लिखि चित्र के माँहि किधौं वहि प्राण अधार विरंचि दयो।
धरि के सुखमा चित कै सब ही एक रूप अनूप वनाय लयो॥
अब सोचत हूँ विधि की वल में अरु वा तिय की रँग ढंग ठयो।
तब भासति है मन माँहि यही कमला को नयो अवतार भयो॥

—शकुंतला नाटक।

काव्य का लक्षण एक सुभाषित में इस प्रकार दिया है—

"अंतर्गूढानर्थानव्यंजयतः प्रसादरहितस्य।
संदर्भस्य नदस्य च न रसः प्रत्यै रसज्ञानाम्॥"

अर्थात—जो नद अथवा काव्य-प्रबंध प्रसाद-रहित है (नद पक्ष में मैला और काव्य पक्ष में क्लिष्ट) और उसके कारण भीतर का गुप्त अर्थ (नद पक्ष में वस्तु) दिखाई नहीं पड़ता उसका रस (नद पक्ष में उदक) रसिकों को आनंददायी नहीं होता है।

काव्य-गुण कुछ बड़े कुल अथवा धनिकता पर निर्भर नहीं है। यह ईश्वर की देन है, जिस पर कृपा हो जाय। महात्मा तुलसीदास, तुकाराम, सूरदास इत्यादि कोई राजा महाराजाओं के घरों में नहीं पैदा हुए थे, किंतु साधारण दशा के लोग थे।

जो काव्य प्रसाद-गुण-युक्त होता है वही अंतःकरण को मोहित करता है। उत्तम विषय पर जगन्मान्य ग्रंथ रच कर

लोगों के सिर झुकवाने की यदि किसी की इच्छा हो तो उसे अपने आप को कवि बनाना चाहिए।

जिसके अंतःकरण में कविता देवी के प्रसाद और स्फूर्ति अर्थात् स्वाभाविक उमंग का संस्कार नहीं है और जो केवल तुकबंदी करने की शक्ति रखता है यदि वह इस पूँजी के साथ काव्य देवी के मंदिर में प्रवेश पाने की लालसा करे तो उसका वह प्रयास निष्फल है।

ऐसे वैसे कवि पैदा होते हैं और मर जाते हैं, उनके नाम तक कोई नहीं जानता। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपियर इत्यादि महाकवियों के काव्य सैकड़ों वर्षों का समय बीतने पर भी ज्यों के त्यों बने हैं। उनके काव्य के एक शब्द अथवा अक्षर तक का लोप नहीं हुआ। इतने समय में राजा महाराजाओं के असंख्य राजमंदिर, प्रासाद और दुर्ग टूट फूट कर नष्ट हो गए, बड़े बड़े दिग्विजय करनेवाले सिकंदर सरीखे महायोद्धा लोगों के चित्र तक देखने को मिलना अब कठिन हो गया है परंतु सुक़रात और प्लेटो के विचार, उनके उपदेश अब तक जीवित हैं। महाराजाधिराज मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्रजी की सच्ची तसवीर कहीं नहीं है परंतु महाकवि वाल्मीकि के बुद्धिबल और ज्ञान से निर्मित काव्यरूपी प्रतिमा अब तक क़ायम है। ग्रंथ पुराने हुए तो उन्हें नवीनता दी जा सकती है। तुलसीदास जी की रामायण प्राचीन रामायण का नया रूप है, इससे सत्कवि की कृति को

काल से कुछ भय नहीं है। चित्र और प्रतिमा को सब कोई निर्जीव ही कहेंगे परंतु काव्यरूपी प्रतिमा कभी निर्जीव नहीं हो सकती, क्योंकि वे भिन्न भिन्न समयों में अनंत मनुष्यों के अंतःकरणों में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ, विचार और कार्य उत्पन्न करते रहे हैं। एक जहाज़ एक देश का माल और संपत्ति दूसरे देश को ले जाता है और उससे दूरस्थ लोग अनेक प्रकार के सुखोपभोग प्राप्त करते हैं, इस कारण समुद्रयानों की बड़ी प्रतिष्ठा और प्रशंसा है। फिर काव्य ग्रंथों की क्या महिमा बखानी जाय? क्योंकि काव्य ग्रंथ भी समुद्रीय जहाज़ों के समान समय के अनंत और अपार सागर में प्रवास करते हुए मानव जाति को युगांतर में प्रगटित बुद्धिमत्ता, ज्ञान प्रकाश और नई कल्पनाओं का लाभ कराते हैं।

काव्य का संगठन कैसे होता है? विचारबुद्धि से। उसे चित्ताकर्षकता कैसे प्राप्त होती है? प्रेम से। विचार और प्रेम का मार्गदर्शक कौन है? युक्तयुक्त विचार। इसलिये कवि के लिये विचारशक्ति, प्रेम, रसिकत्व इत्यादि गुणों की आवश्यकता है। उसके लिये कल्पना शक्ति तो अनिवार्य ही है।

सत्काव्य केवल कवि-प्रसाद का फल है और वह श्रमसाध्य है परंतु प्रतिभावान् कवि की वाणी सहजप्रसादमयी होती है।

एक समय एक गणितज्ञ पंडित ने कहा—"मिल्टन के काव्य ने क्या बात प्रमाणित की है? काव्य का व्यवहार में क्या उपयोग है?" परंतु उपयोग-वाद के अनुसार "बड़े से बड़े

समाज का बड़े से बड़ा लाभ" जिसमें है वह उपयुक्त समझा जाता है, और काव्य से यदि अधिक से अधिक लोगों का मनोरंजन होता है तो कौन कह सकता है कि वह उपयोगी नहीं ? क्योंकि काव्य जगत् का मनोरंजन करके मानों मनुष्य जाति की सेवा ही करते हैं।

बड़े बड़े प्रतिभाशाली ग्रंथकारों के प्रसादमय ग्रंथों का मुख्य उद्देश्य चाहे इतना ही हो कि पढ़नेवालों का उससे मनोरंजन होवे और वह उद्देश्य सफल भी हो जाय ; तथापि केवल इसी बात से उस ग्रंथ की योग्यता का अनुमान करना उचित नहीं। जब ये ग्रंथकर्ता लोग अपने ग्रंथ बनाते हैं तब वे यह बात समझ लेते हैं कि हमारे पाठक इस योग्यता और बुद्धिमत्ता के हैं कि वे हमारे ग्रंथ को समझ सकें और इस प्रकार वे बुद्धि और ज्ञान को प्रचारित करते हैं। इस गुण की तरफ़ देख कर उस ग्रंथ की महत्ता और योग्यता ठहरानी उचित है।

काव्य का पूरी तरह आनंद उठाने के लिये पाठक को चाहिए कि वह अपने हृदय की संकुचितता को दूर करे, अपनी दृष्टि को दूर तक पहुँचाए और कवि ने अपनी वचन-चातुरी से जो नए नए रूप दिखाए हों उन्हें समझने का वह अभ्यास करे। जगत् में जो कुछ सौंदर्यमय समझा जाता है उसकी सुंदरता और उससे होनेवाला मानसिक संस्कार अवश्य ही पहिचानना चाहिए।

"क्या कवि का मुझ पर इतना उपकार नहीं है कि मैं उससे प्रेम करूँ, उसकी प्रशंसा करूँ और जितना मुझ से हो सके उसका गौरव रक्षण करूँ? काव्य को छोड़ अन्य विषयों में शिक्षा पाए हुए लोगों के श्रम और उपदेशों से संसार में बड़े बड़े महापुरुष निर्माण होते आए हैं और हम उनसे बोध भी ग्रहण करते हैं। परंतु कवि स्वयं प्रकृति का बनाया हुआ होता है। उसे अपने बुद्धिसामर्थ्य से स्फूर्ति होती है और ईश्वरीय अंश से उसमें प्रेरणा होती है। इसलिये कवि "पवित्र" कहाता है। कवि लोग इस जगत् के रत्न नहीं हैं किंतु वे हमारे अभ्युदय और उत्कर्ष के लिये परम कारुणिक दयामय परमेश्वर के समय समय पर स्वर्गभूमि से यहाँ भेजे हुए लोग हैं।"

अनेक प्रकार की कल्पनाओं के अनेक संयोगों को भले प्रकार ग्रहण कराते हुए काव्य मन का विकास करता है और इस संसार में छिपे हुए सौंदर्य के परदे को हटा कर परिचित पदार्थों को बिलकुल अपरिचित बना देता है। जैसे एक छोटे बीज के भीतर अनंत वृक्षों की उत्पत्ति की शक्ति संगृहीत है उसी प्रकार एक काव्य के भीतर अनंत सौंदर्य की उत्पत्ति की संभावना भरी होती है। परदे के बाद परदा हटा कर मूल सौंदर्य को चाहे प्रकाशित भी किया जाय किंतु काव्य का सच्चा इद्गत भाव समझ लेना कठिन है। महाकाव्य एक फव्वारा है। उसमें से ज्ञान और आनंद के तुषार सर्वदा झरते रहते हैं।

महात्मा रामदास ने अपने दासबोध नामक ग्रंथ में कवि को विधाता का पद दिया है—

"ये शब्द-सृष्टि के ईश्वर हैं नहीं तो ये परमेश्वर हैं। ये वेदावतार हैं अथवा मानों सरस्वती के घर हैं वा विविध कलाओं के प्राणाधार हैं। नाना प्रकार के शब्दों के यथार्थ अलंकार हैं अथवा ये शब्दरत्नों के रत्नाकर हैं। मुक्त पुरुषों के मुक्त सरोवर हैं, विविध बुद्धि के आकर हैं। ये कल्पना के कल्पतरु हैं, मोक्ष के मुख्य वाहक हैं और अनेक सायुज्यता के फैले हुए विस्तार रूप हैं। अथवा ये अमृत के मेघ घुमड़ घुमड़ कर आए हैं, नव रसों के प्रवाह की नहरें हैं वा अनंत सुख के गंभीर सरोवर हैं। अथवा मानों ये विवेक-निधि के भांडागार हैं जो मनुष्य के रूप में प्रगट हुए हैं और जिनमें नाना वस्तु-विचार कूट कूट कर भर दिए गए हैं।"

जिस सृष्टि में इधर उधर सुंदरता ही दीखती है और कानों में मधुर गीत सुनाई पड़ते हैं वह काव्य के प्रेमी मनुष्यों को अतीव सुखदायी होती है।

अनेक कविजनों ने अपनी प्रिय वसुंधरा को चित्र विचित्र रंगों से, सुंदर नदियों से, फल-भार से विनम्र अनेक प्रकार के तरुवरों से, सुगंधमय कुसुमों तथा अन्य रमणीय पदार्थों से जिस प्रकार शोभित किया है वैसा स्वयं प्रकृति देवी ने भी नहीं किया है।

हम चाहे किसी एक मनुष्यपूर्ण और व्यवसाय से गूँजने-

वाले नगर के मध्य में हों किंतु काव्य के पठन से ऐसा प्रतीत होता है कि हम खुले प्रदेश में और प्रकाश-मय स्थान में बैठे हैं। हमारे कानों में वनवृक्षों के पत्तों की सरसराहट और निर्झरों की कलकल ध्वनि सुनाई पड़ती है और हमारा मन आनंद-सागर में मग्न होने से हम संसार की घोर चिंता और क्लेशों को भूल जाते हैं।

कवि लोग प्रकृति देवी के सच्चे भक्त होते हैं। इसी कारण—

दुखित सृष्टि सब होत है, जब कवि छाड़ैं देह।
निज भक्तन के विरह में, होत गलित सब देह॥—स्कॉट।

काव्य के मर्म और महत्व को पूरी तरह समझने की इच्छा हो तो उसका भली तरह मनन करना चाहिए। केवल अवलोकन करके अथवा सरसरी तौर पर पढ़ कर उसका समझ में आना कठिन है। किसी काव्य पर व्याख्यान देने अथवा प्रबंध लिखने की दृष्टि से भी यदि उसे पढ़ा जाय तो भी उसकी सच्ची सुंदरता का अनुभव न होगा। उसका मधुर रस पान करने के लिये हमारे चित्त की वृत्ति तैय्यार होनी चाहिये तब काव्य-सौदर्य का सुख प्राप्त हो सकता है। बहुत से लोग दुःख और चिंता से पीड़ित होने को अवस्था में काव्य का पाठ करें तो उस समय उनका चित्त बहल जायगा परंतु मन की व्यग्र दशा में उन्हें काव्य-रस का स्वाद प्राप्त न होगा। इस लिये जब मन स्थिर, प्रसन्न और प्रशांत हो तब काव्य पढ़ना चाहिए।

छापे की विद्या जब से चली है तब से काव्य का अमूल्य और अटूट खज़ाना लूटने का मार्ग सब के लिये खुल गया है, क्योंकि थोड़ा मूल्य देने से हर किसी को वह प्राप्त हो सकता है।

पूर्व समय में और सांप्रत में काव्य से होनेवाले लाभों को देख उसकी योग्यता का अंदाजा करना योग्य न होगा, क्योंकि उसकी श्रेष्ठता आनेवाले समय में भी बहुत बढ़नेवाली है। समय पाकर उत्तम काव्य मनुष्य जाति की शांति और संतोष का सच्चा साधन बन जायगा।

सुखी मनुष्यों का जो समय अत्यंत सुखमय बीता है, काव्य उसका एक स्मारक लेख है अथवा इस जीव को अधिक प्रकाशमय करनेवाला दीपक है। वह इस जगत् के सौंदर्य को अजर और अमर बना देता है और जिस अतिपरिचय रूप परदे के कारण हमारी आंतरिक दृष्टि को इस जीवन का सच्चा कुतूहल मालूम नहीं होता उस परदे को हटा देता है। काव्य संपूर्ण ज्ञान का विस्तार है और कवि सांप्रत के समय पर भविष्यत् में पड़नेवाली प्रकांड छाया का आदर्श रूप है। महात्मा रामदास ने कहा है—

"मानो कविकृति निरंजनों की संपत्ति है, अथवा विराट रूप की योग स्थिति है, अथवा भक्तजनों की भक्ति का फलोदय है। काव्य ईश्वर की महिमा है जो देखने में आकाश से भी बढ़कर है और ब्रह्मांड की रचना से भी अधिक पुष्ट है।

१७—संगीत ।

दोलायां शायितो बालो रुदन्नास्ते यदा क्वचित् ।
तदा गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ।
क्रुद्धो विषं वमन्सर्पः फणामांदोलयन्मुहुः ।
गानं जांगलिकाच्छ्रुत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ॥

—संगीतपारिजात ।

भावार्थ—हिंडोले में सुलाया हुआ बालक यदि रोता है तो माता गीत गाकर सुलाती है, और वह मधुर गान-सुधा पीकर परम हर्षित होता है। बालक तो क्या, विषधारी सर्प भी यदि क्रोध से विष उगलता हो तो सँपेरे की बाँसुरी की धुन सुन कर आनंद से झूमने लगता है।

भारतवर्ष की प्राचीन ललित कलाओं में संगीत भी अत्यंत प्राचीन विद्या है। देवताओं के गायकों के विषय में 'हाहा हूहूश्चैवमाद्या गंधर्वास्त्रिदिवौकसाम्' वाली अमरकोष की इस पंक्ति से इस बात का पता लगता है कि देवताओं के गंधर्वों में हाहा, हूहू इत्यादि श्रेष्ठ गायक थे। अप्सरागण देवताओं के दरबार की नृत्य गीतादि से रिझानेवाली सुरमणियाँ थीं और प्राचीनतम समय में कैलाशपति का तांडव नृत्य, नारद के भजन और अप्सराओं का गान प्रसंग विशेष पर साधारण जन समाज को भी देखने और सुनने का अवसर

प्राप्त होता था तो यह बात बिलकुल स्वाभाविक है कि जन समाज में भी इन ललित कलाओं का प्रचार हो गया था। "वेदानां सामवेदोस्मि" भगवान् श्रीकृष्ण की इस उक्ति से यह बात प्रमाणित होती है कि वेदों में यदि कोई श्रेष्ठ वेद है तो वह श्रवणमधुर संगीतमय सामवेद है। सामवेद में धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषम और गांधार इतने ही स्वर थे। परंतु षड्ज शब्द ही से मालूम होता है कि यह वह सुर है जिसकी उत्पत्ति छठे स्थान से होती है। इससे पंचम और मध्यय भी अवश्य वेद काल के ऋषियों को ज्ञात थे।

प्राचीन समय में ऋषि लोग पर्वतों और अरण्यों में रह कर बड़े हर्ष के साथ वीणा के सुर के साथ वेद पाठ करते थे और यज्ञ याग आदि में भी वीणा के साथ मंत्र न कहे जाँय तो वह यज्ञ सांग नहीं समझा जाता था।

पौराणिक समय में तो संगीत की अधिक ही योग्यता मानी जाती थी। महात्मा वाल्मीकि ने दशरथी रामचंद्र के पुत्र लव कुश को उनके पिता का गुणानुवाद गाना वीणा के सुर पर सिखाया था। महाप्रतापी रावण ने संगीत शास्त्र पर ग्रंथ लिखे थे और वह अपने महलों में अप्सरा और नायिकाओं से संगीत सुन कर मनोरंजन करता था। भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर मुरली की धुन सुन कर ग्वाल गोपी मोहित हो जाती थीं। एक समय रुक्मांगद राजा ने एकादशी का व्रत किया। यह बात इंद्र को अच्छी नहीं लगी। तब उसने राजा का व्रत

भंग करने लिये मोहिनी नामक अप्सरा को भेजा । मोहिनी ने अपनी वीणा पर अनेक रागों में संगीत गाकर राजा को मुग्ध कर दिया और उसके एकादशी व्रत का भंग कर दिया।

भारतवर्ष के लोग संगीत को भी वेदों के तुल्य पूज्य मानते थे, इस कारण बड़े बड़े राजा महाराजा लोग भी संगीत का अभ्यास करते थे। ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य ने तेली के यहाँ कोल्हू पर बैठ कर दीपराग गाया था जिसके प्रभाव से वह स्थान दीपमय हो गया था। राजा भोज भी बड़ा गानेवाला था। संस्कृत कादंबरी के मुख्य नायक राजा चंद्रापीड़ ने राजपद भोगने की पात्रता प्राप्त करने के लिये संगीत, वाद्य, नृत्य इत्यादि आवश्यक विद्याएँ अच्छी तरह सीखी थीं। राजपुत्र और राजकन्याओं की शिक्षा में तथा बड़े घरों की स्त्रियों में संगीत सीखने की प्रथा थी। मुसलमानों के उत्कर्ष काल में संगीत विद्या ने बड़ी उन्नति की। बादशाह अकबर के दरबार में ग्वालियर के सुविख्यात गायक तानसेन तथा महात्मा सूरदासजी के पिता बाबा रामदासजी गायकों में नौकर थे। ग्वालियर में राजा मानसिंह की संगीत की पाठशाला विख्यात थी। मुसलमानों ने संगीत विद्या भारतवर्ष ही से सीखी।

डाक्टर हंटर ने अपने भारतवर्ष के इतिहास में लिखा है कि हिंदू संगीत-शास्त्र पाणिनि के समय के पूर्व अर्थात् ईसवी सन् के आरंभ से लगभग ३५० वर्ष पूर्व बहुत उन्नत दशा को पहुँच चुका था। उसी समय में सप्तसुर नियत हुए और अपने

नामों के पहले अक्षर से वे चिन्हित किए गए। हिंदू लोगों के सप्तसुरों को फारसवालों ने ग्रहण किया और उनसे अरबवालों ने सीखा और अरबवालों से ११ वीं सदी के लगभग उनका युरोपखंड में प्रचार हुआ।

संगीत की उत्पत्ति यूनानी लोगों में किस प्रकार हुई, इसके विषय में एक आख्यायिका है। पूर्वकाल में एक दूसरी ही दुनिय में टिड्डियों की तरह मनुष्य प्राणी थे। परंतु जब वाग्देवता ने उस जगत् में निवास किया तब उसके गाने से वे टिड्डी-रूप प्राणी इतने तन्मय हो गए कि वे स्वयं गाने लगे और गाने की धुन में खान पान भूल कर गतप्राण हो गए। दूसरी एक कथा ऐसी लिखी है कि पिथेगोरस एक दिन एक लुहार की दूकान से होकर जाता था। उसने लुहार के हथौड़ों के शब्द को सुस्वर सुना। उसने उन हथौड़ों का वज़न तौला तो ६, ८, ९, और १२ इस प्रमाण में वे चार हथौड़े पाए गए। फिर उसने उसी प्रमाण के वज़न के धातु के चार टुकड़े समान आकार के लेकर उन्हें रस्सी में बाँध दिया और उन्हें बजाया तो उनमें से पंचम, मध्यम, षडज आदि स्वर निकले।

चीनी लोगों में जो स्वर हैं उनके नाम व्यावहारिक हैं। पहले स्वर का नाम "बादशाह" दूसरे का "श्रेष्ठ प्रधान" तीसरे का "पूजा" चौथे का "राजनीति" और पाँचवें का "आकाशदर्पण" है।

युरोप में जो स्वर प्रचलित हैं उन्हें "ग्रेगेरियन" स्वर कहते

हैं। संभवतः सैंट ग्रेगेरियस ने उन्हें क़ायम किया हो। परंतु उनके संगीतशास्त्र ने क्रमशः अच्छी उन्नति की है। सन् ११८५ में किसी सज्जन ने अँग्रेज़ी गायन के विषय में लिखा है कि "इँगलैंड में एक से अधिक मनुष्य एक साथ ही गाते हैं परंतु वे औरों की तरह एक स्वर में मिल कर नहीं गाते। हर एक अपनी तान जुदी छेड़ता है जिससे मालूम होता है कि जुदा जुदा लोग स्वतंत्र गान कर रहे हैं।"

इँगलैंड में जिस प्रकार कवियों में मिल्टन, नाटक-लेखकों में शेक्सपियर, गणितज्ञों में न्यूटन था उसी प्रकार गायन-शास्त्रज्ञों में पर्सेल नामक एक गृहस्थ था। परंतु उसके बनाए हुए संगीत का अँग्रेज़ लोगों को यथार्थ ज्ञान नहीं है। पर्सेल अपनी छोटी ही अवस्था में इहलोक छोड़ गया।

भारतवर्ष में राग और रागिनियों का गान दिन और रात्रि के निश्चित समयों पर ही होना नियत है। ये राग और रागि-नियाँ मनुष्य की मनोवृत्तियों की दर्शक हैं। ग्वालियर के राज-महलों में इन राग और रागिनियों के स्वरूप, काल, स्थान, अवस्था और साहित्य इत्यादि के दर्शक बहुत सुंदर चित्र रंगों में लिखे हैं, जिन्हें लोग दूर दूर से देखने आते हैं। समय समय के राग और रागिनियों को उनके नियत समय पर गाते हुए सुनना अत्यंत आनंदजनक होता है। उत्तर रात्रि के सब राग और रागिनियाँ तथा प्रातःकाल से ८-१० बजे दिन तक गाई जानेवाली धनाश्री, भैरवी, आनंद भैरवी, आसावारी

इत्यादि रागिनियाँ अत्यंत श्रुति-मनोहर हैं। भैरवी तो इतनी लोकप्रिय है कि उसके संगीत को सुनते ही मनुष्य तल्लीन हो जाता है।

युरोप की सब भाषाओं में अँग्रेज़ी की तरह जुदा जुदा भाषाओं में सुंदर गीत बनाए गए हैं। वे सुनने में मीठे और वहाँ के लोगों की रुचि के अनुसार होते हैं। इन गीतों के रचयिता लोग कौन थे, इसका पता नहीं है, न उन रागों के बनानेवालों का ही पता है।

इस संसार में ईश्वर की दया से सुख के जो साधन मनुष्य को प्राप्त हुए हैं उनमें संगीत की भी गिनती है। कई शब्द अर्थात ध्वनियाँ ऐसी हैं जिन्हें 'संगीत' नाम देना उचित नही, तथापि उनके सुनने से आनंद होता है। ग्रामीणों में सींग या धुतारी के बजाने से स्फूर्ति बढ़ती है। जो संगीत वस्तु है वह प्रकृति देवी में भरी है। पक्षियों का गान, वृक्षों के पत्तों में से हवा के बहने से होनेवाली सनसनाहट, समुद्र बालुकामय किनारे पर जो ध्वनि करता है उसकी गर्जना, वायु का बहना, ये संगीत के प्राकृतिक रूप हैं। तारागण भी अपने भ्रमण में संगीत गाते रहते हैं।

संगीत, चंद्रिका और सहृदयता ये अत्यंत मनोहर पदार्थ जिस जगत् में एक रूप हैं उस अहोभाग्य जगत् में संगीत का जन्म हुआ होगा और वहीं से वह इस पृथ्वी पर आया है क्योंकि इस जड़ पृथ्वी पर वह कैसे निर्माण हो सकता है?

जैसे गीत में संगीत है उसी प्रकार भाषण में भी है। किसी मधुरवक्ता के बोलने के पश्चात् उसकी मधुर वाणी की ध्वनि कानों में गूँजती रह जाती है और ऐसा मालूम होता है कि वह अभी बोल हीं रहा है।

जिस प्रकार संगीत सिखाते समय कंठ और स्वर को चिंतापूर्वक साधते और तैयार करते हैं उस प्रकार साधारण बोलचाल में वाणी का महत्व लोग नहीं समझते परंतु वाणी की श्रेष्ठता कुछ और ही है—

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते।
जड़ानप्यनुलोभार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः॥ —माघ।

भावार्थ—प्रतिपक्ष में बोलनेवाला यदि वृहस्पति हो तो भी चतुर वाणी उसे मौन कर देती है, और अनुकूल भाषी यद्यपि बुद्धि का जड़ हो तो भी प्रतिष्ठा पाता है।

जिसका चित्त न विधा और सिर हिला न क्षण भर।
सुन कर मृदु संगीत उसे कहिए जड़ पामर॥

—शेक्सपियर।

किसी किसी को संगीत में आनंद नहीं आता परंतु इस कारण उसका शेक्शपियर के कहे हुए गुणों से युक्त होना निश्चित नहीं है। डाक्टर जानसन को संगीत से विशेष प्रेम नहीं था। किसी समय उससे एक मित्र ने कहा कि अमुक गीत गाने में बहुत कठिन है। उस पर डाकृर जानसन ने कहा कि—"वह गीत बहुत यत्न करने पर कोई न कोई गाही लेगा

परंतु वह किसी से भी कभी गाते न बनता तो अच्छा होता।" यद्यपि डाक्टर जान्सन को संगीत में रुचि नहीं थी तथापि वह दुर्जन न था।

कविजनों ने संगीत की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। मिल्टन नामक कवि ने उसे सुख के साधनों में गिना है। उसने लिखा है कि "जिस संगीत में कभी नष्ट न होनेवाला काव्य है, जो हृदय के भीतर पैठ जाता है, जिसके सुर अति मंजुल हैं और परस्पर सहायक होकर माधुरी के पोषक हैं, जिस संगीत में आस्थाई, अंतरा, आलाप, लय तान इत्यादि के रूप में स्वर यथेच्छ खेलते हैं और अनेक प्रकार से मनमाने तोड़ मरोड़ के साथ उसका एक परदा खोल कर संगीत के सच्चे रहस्य को दिखाते हैं ऐसा संगीत मुझे सर्वदा तल्लीन और मुग्ध बना रक्खे तो मेरे मन को चिंता की वाधा कभी नहीं होगी।"

संगीत में ऐसी मोहनी शक्ति है कि दूसरों का गाना सुन कर अपने को गाने की प्रबल इच्छा होती है।

सुने मंजु गान तरु कुंजन में भृंगन के,
कामिनी के कानन अलाप धुनि छाई है।
कोकिला की कूक सुनि पंचम में मीठी अति,
मानस में मंजुधुनि जागृत ह्वै आई है॥
आपहू मिलाई तान मंजुल सुरसवारी,
माधुरी की गुरुता निज गर्व सों दिखाई है।

देखो रसवंत भृंग औ विहंग हू ते बढ़ि,
माधुरी अनूप कलकंठ में सुहाई है ॥ —स्पेंसर ।

क्यों न हो ! गायन को भारतवासी अनादि काल से पूर्ण आनंद का निवासस्थान मनाते आए हैं ।

अपि ब्रह्म परानंदादिदमभ्यधिकं ध्रुवम् ।
जहार नारदादीनां चित्तानि कथमन्यथा ॥
—सुभाषित ।

भावार्थ—सचमुच ब्रह्मानंद से भी गान का आनंद अधिक है क्योंकि ऐसा न होता तो नारद जैसे विरागी पुरुष का चित्त क्योंकर आकर्षित हो सकता था ?

कभी कभी मन की वृत्ति को संगीत कैसे उत्कंठित करता है उसका आभास महा कवि कालिदास इस प्रकार देते हैं—

लखि के सुंदर वस्तु अरु मधुर गीत सुनि कोइ ।
सुखिया जन हू के हिए, उत्कंठा यदि होइ ॥
कारन ताको जानिए, सुधि प्रगटी है आय ।
जन्मांतर के सखन की, जो मन रही समाय ॥—शकुंतला ।

भगवद्भजन में तो संगीत से बहुत बड़ी सहायता होती है—

तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदांबुजरजोऽनिल नीतम् ।
आमृशन्पयसि वा बहु पुण्याः प्रेम वेपित भुजा हतवेगाः ॥
—श्रीमद्भागवत ।

भावार्थ—गायन की मंजुल ध्वनि से जिनका प्रवाह स्तंभित हो रहा है और गति भग्न होकर जिनके तरंग रूप भुज

प्रेम से कंपित हो गए हैं ऐसी पवित्र नदियों ने मुरलीधर की मधुर मुरली का संगीत सुन कर वायु के साथ उड़ कर आए हुए श्रीकृष्ण के चरण रज का सेवन किया।

जिस संगीत में जड़ पदार्थों तक को अपने स्वाभाविक कार्यों से विरत करने की शक्ति है उसका प्रभाव जीवधारियों पर कितना अधिक होगा, इसका वर्णन करना कठिन है।

संगीत के द्वारा इस विश्व के कर्त्ता और चालक का ज्ञान होता है, दुःख में सुख होता है और सब वस्तुएँ आनंदमय दिखाई देती हैं। संगीत के श्रवण से मनुष्य में सज्जनता का विकास होता है और जिस न्याय-देवता और सौंदर्य की वह एक अदृश्य प्रतिमा है उस न्याय-देवता और सौंदर्य-देवी पर वह प्रेम करने लगता है। संगीत के समान सुंदर और सुखदायक अन्य लाभ ईश्वर से कभी मनुष्य को प्राप्त नहीं हुआ। महात्मा लूथर ने तो यहाँ तक कहा है कि "मुझे जो संगीत प्राप्त है उसको यदि मुझे संपूर्ण भूमंडल का राज्य भी कोई देवे तो भी मैं नहीं दूँगा।"

अखंड दोलायमान् महोदधि की गर्जना भी एक प्रकार का गंभीर संगीत है। उसे सुन कर मन पर गंभीर और शांत रस का प्रभाव पड़ता है। इस जड़ सृष्टि की ध्वनि में मनुष्य कृति का कुछ भी संबंध नहीं है, यह बात जब मन में आती है तब हमारे मन में अकेले होने का भाव नहीं आता परंतु मनुष्यकृत संगीत में गाने और बजानेवालों की मनोवृत्तियाँ जिस

प्रकार विकसित होती हैं उसी प्रकार स्वरों की मिलावट और नई नई तानों की रचना होती जाती है। कभी वे मंद मंद मधुर गति से निकलते हैं, कभी ऊँचे गगन-विहारी हो जाते हैं और कभी गायक की मनोवृत्ति को प्रक्षुब्ध कर देते हैं। वे श्रोताओं की मनोवृत्ति एक सी बना देते हैं और अंत में जिस ईश्वर ने संगीत के आनंद को उत्पन्न करनेवाले भक्तों को वह शक्ति दी है उसकी महिमा के आनंद में लीन हो जाते हैं।

बहुत प्राचीन समय से उद्योग और गीत की जोड़ी बँध गई है। नदी में अपनी डोंगी पर बैठा मछुआ अपने ग्राम्य संगीत अलापता है, ग्वालन गैया चराते हुए, स्त्रियाँ चक्की पीसते हुए और खेतिहर हल चलाते हुए अपने संगीत को उद्यम से मिला कर अपने श्रमों को हलका करते हैं। सब उद्यमकारों में शरीर के श्रम करनेवालों के लिये गाने के समान श्रम-हारक कोई अन्य साधन नहीं है।

यदि एकांततः सुख की देनेवाली कोई वस्तु संसार में है तो वह संगीत है। अन्य विद्याओं और कलाओं की रुचि का ज्ञान होने के लिये उसकी शिक्षा का किंचित् संस्कार होने की आवश्यकता है, परंतु संगीत-शास्त्र का कुछ भी परिचय न हो तो भी वह क्या छोटे क्या बड़े सबको आनंद देता है।

१८—प्रकृति-सौंदर्य ।

हरिणचरणक्षुण्णोपांताः सशाद्वलनिर्झराः ।
कुसुमललितैर्विष्वग्वातैस्तरंगित पादपाः ॥
विविध विहगश्रेणी चित्रस्वन प्रतिनादिता ।
मनसि न मुदं दध्युः केषां शिवा वनभूमयः ॥

—सुभाषित ।

भावार्थ—जहाँ हरी हरी दूब का गलीचा सा बिछा है, निकट ही सुंदर झरने बह रहे हैं, जिनमें हिरनों के खुरों के चिह्न चिह्नित हैं, कमनीय कुसुमों के मधुर सुगंध से सुगंधमय पवन बह रही है और तरुवर हिल रहे हैं, उन पर तरह तरह के विहंगम अपनी तरह तरह की मंजुज ध्वनि से संपूर्ण प्रदेश को प्रतिनादित कर रहे हैं ऐसी परम रमणीय वनस्थली किसके मन को आनंदित न करेगी !

प्रकृति की सुषुमा सचमुच सुंदर है, परंतु उसे समझने की शक्ति थोड़े ही लोगों में होती है। पीछे के प्रकरणों में इस संसार में सुख और आनंद का लाभ जिन साधनों द्वारा प्राप्त हो सकता है उनका उल्लेख प्रसंगवश किया गया है परंतु उनमें प्रकृति के सौंदर्य का अलम् वर्णन नहीं आया है, उसे यहाँ देना उचित है।

प्रचंड ऊर्मिमय गंभीरघोषी महासागर का प्रथम दर्शन

करने, निर्जन और घोर अरण्य में से जिसमें चिड़िया पंख नहीं मारती प्रथम ही प्रवास करने, पृथ्वी के ऊँचे पहाड़ों की चोटियों का स्फोट होकर महा भयंकर ज्वालामुखी के डरावने मुख से पृथ्वी के पेट से बह निकले हुए पत्थर मिट्टी धातु इत्यादि पदार्थों के रस प्रवाह को प्रथम ही देखने अथवा नितांत शीत के कारण बर्फ़ से ढँके हुए स्फटिकमय प्रदेश में चलने से जो नया और अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है उसका कुछ अकथनीय संस्कार मन पर होता है। ये चमत्कारमयी प्राकृतिक घटनाएँ मानों प्रकृति देवी की लीलाएँ हैं। इनके देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि मानों वह किसी नए जगत् में खड़ा है और उसकी कल्पना और वर्णनशक्ति स्तंभित गई है!

प्रकृति के सौंदर्य को समझने के पूर्व हमें उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। प्रकृति की तरफ़ ध्यान न देने की अपेक्षा उसे देखना सहज है और जिस वस्तु की ओर मनुष्य देखे उसके रहस्य को जान लेना तो मनुष्य का स्वभाव ही है। सौंदर्य-शास्त्र का ज्ञाता रस्किन लिखता है कि—“ हमारा जीवात्मा इस भूमि पर एक काम सर्वदा किया करता है—अर्थात प्रकृति-निरीक्षण, और जो कुछ वह देखता है उसका वर्णन करता है।” ज्ञानवान् मनुष्य की आँखें हमारी आँखों से कुछ जुदी नहीं हैं परंतु हमें जो नहीं दिखता वह उसे दिखता है। कहा भी है—

वदन, श्रवण, दृग नासिका, सब ही के इक ठौर।
कहिबो सुनिबो देखिबो, चतुरन को कछु और॥

जो कोई ध्यानपूर्वक देखने का अभ्यास करेगा उसे वर्षा समय में हर घड़ी एक नया दृश्य दिखाई देगा। खेत में या जंगल में खड़े रह कर देखने में अपूर्व वन-शोभा नज़र आती है। आकाश हर घड़ी बदल कर अपनी निर्मल शोभा और घनों की घटा की परछाँईं भूमि पर डालता हुआ दिखाई देगा।

प्राकृतिक सौंदर्य को देख आनंद होना मन का एक उत्तम गुण है। इस गुण का बीज यदि हम नष्ट कर देंगे तो हमारे चरित्र पर उसका अनिष्टकारक परिणाम होगा। इसी लिये जिसे प्रकृति की सुंदरता देखकर आह्लाद नहीं होता वह चाहे दुर्जन भले ही हो किंतु स्वाभाविक सुंदरता पर प्रेम करनेवाला मनुष्य हँसमुख, आनंदी और प्रसन्नचित्त होता है, इस में संदेह नहीं।

विकसित सहकार भारहारि-परिमल पुंजित गुंजित द्विरेफः।
नव किसलय चारु चमार श्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसंतः॥

भाव—आम्र-मंजरी का सुगंध का चारों तरफ़ फैल जाने से भृंगवृंद गुंजार करते हुए उन पर मोहित हो जाते हैं। वृक्षों के नवीन कोमल पत्ते फूट कर सुंदर चँवर की भाँति शोभते हैं, ऐसे वसंत की शोभा मुनिजनों के भी मन को हर लेती है, फिर मनुष्य का कहना ही क्या है?

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहै पद्माकर पराग हू में पौन हू में,
पातिन में पीकन पलाशन पगंत है॥
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में,
देखो द्वीप द्वीपन में दीपति दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में वेलिन में,
बगन में बागन में बगर्‌यो वसंत है॥"

यह वसंत-वर्णन अद्वितीय है। हमारे प्राचीन कवियों के सृष्टि-चमत्कारों के वर्णन जहाँ तहाँ ऋतु-वर्णन के रूप में किए हुए देख कर उनकी प्रकृति की सूक्ष्म अवलोकन करने की शक्ति का परिचय मिलता है।

फूलों को कवि प्रथम स्थान देते हैं। सचमुच वनश्री का दृश्य कल्पना के सम्मुख आते ही प्रथम फूलों का दर्शन होता है। पुष्पों को प्रकृति देवी ने मनुष्य जाति के ही सुख के लिये बनाया है। बालक फूलों पर बहुत प्रीति करते हैं। सुंदर और शांत आनंद देनेवाले फूलों पर बागवान, कृषक जैसे ग़रीब लोग भी प्रीति करते हैं। ऐश और आराम में पड़े हुए विषयी लोग पुष्प तोड़ कर अपने उपभोग में लाते हैं। नागरिकों और ग्रामीणों की फूलों पर एक सी प्रीति होती है।

हर एक ऋतु के फूल जुदा जुदा होते हैं। फूलों के उद्भव का समय वसंत, ग्रीष्म और शरद् ऋतु हैं। तथापि जंगलों

में, पहाड़ों में, वनस्थली में, समुद्र तीर पर सर्व काल में भाँति भाँति के पुष्प खिलते रहते हैं।

कुसुम-दर्शन से केवल नयनों को ही सुख नहीं होता किंतु उनसे ज्ञान और उपदेश प्राप्त करनेवाले के लिये उपदेश भी मिल सकता है। पुष्पों के मनोहर रंग और विचित्र आकृतियों को देख ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी विशेष और बड़े उद्देश्य के लिये ईश्वर ने उन्हें बनाया है।

फूलों के समान वृक्ष, बेल और लताओं के पत्ते भी बड़े रमणीय मालूम होते हैं। वे प्राकृतिक दृश्य के सौंदर्य के पोषक हैं। बड़े बड़े वृक्षों में छोटे पुष्प लगते हैं और छोटे वृक्षों और वन-लताओं में बड़े फूल आते हैं। वह शोभा निराली है। परंतु वृक्षों की पल्लवश्री सदा सर्व काल में उनकी प्रशांत शोभा बनाए रखती है और हर एक वृक्ष एक सुंदर चित्र सा बना रहता है।

शीत प्रदेश के वन ग्रीष्म ऋतु के दिनों में बहुत शोभायमान दिखते हैं, परंतु जाड़े के दिनों में जब बर्फ़ पड़ती है तो वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं और शाखाएँ पल्लव-रहित हो कर उन पर बर्फ़ का मुलम्मा चढ़ जाता है। वह दृश्य अपनी तरह का निराला होता है। उष्ण प्रदेशों के अरण्यों की और जंगलों की शोभा इससे बहुत भिन्न होती है, यहाँ वृक्ष सीधे ऊँचे गगनचुंबी दिखते हैं। नीचे कुछ दूर तक अर्थात् वृक्ष की जड़ से जहाँ से शाखाओं के भाग निकलते हैं एक बड़ा सरल

विशाल कबंध होता है। इस कारण नीचे का भाग खुला और सघन छाया के कारण अत्यंत शीतल और रम्य दिखाई देता है। ऊपर घने वृक्षों की शाखाओं के जटाजूट मानों मेघाडंबर के समान फैले हुए होते हैं। इन सघन जंगलों में रविकिरणों की अगवानी करने की इच्छा से मानों सब कुछ ऊपर ही को चढ़ता हुआ दिखाई देता है। चौपाए जानवर वृक्षों पर चढ़ जाते हैं। पक्षी तो तरुवर शिखरों की ऊँची से ऊँची डालियों पर बैठे चहक चहक कर मधुर गीत गाया करते हैं। साँप, अजगर भुजंग जैसे रेंगनेवाले प्राणी भी ऊपर चढ़ जाते हैं। बेल और लताएँ तो वृक्षों को लिपटती हुई मानों प्रेमालिंगन का सुख उठा रही हैं और ऊपर तक बढ़ी चली जाती हैं और इनकी इतनी विविध जातियाँ उष्ण प्रदेशों में होती हैं जितनी अन्य देशों में कहीं देखने में नहीं आतीं। दक्षिण के अरण्यों का वर्णन जो महा कवि भवभूति ने किया है वह उष्ण प्रदेशों की वन-शोभा का उत्तम दर्शक है।

ये गिरि सोय जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरनि की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगानि की लोल कलोलनि डोलति भाई॥
सोहे सरित्तट धारि घनी जलवृक्षन की नव नील निकाई।
वंजुल मंजु लतानि की चारु चुमीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

लसत सघन श्यामल विपिन, जहँ हरषावत अंग।
करि कलोल कलरव करत, नाना भाँति विहंग॥
फल भारन सों भालरे, हरे वृच्छ भुकि जाँहि।

झिलमिलाति झाँई सुतिन, गोदावरि जल माँहि ॥

जहँ बाँस-पुंज कंज कलित कुटीर माँहि
घोरत उलूक भीर घोर घुघियाइकैं ।
तासु धुनि प्रतिधुनि सुनि काककुल मूक
भय-बस लेत ना उड़ान कहुँ धाइकैं ॥
इत उत डोलत सु बोलत हैं मोर, तिन
सोर सन सरप दरप बिसराइकैं ।
परम पुरान सिरीखंड तरु कोटर में
मारत स्वकुंडली सिकुरि घबराइकैं ॥

जिन कुहरनि गदगद नदति, गोदावरि की धार ।
शिखिर श्याम घन सजल सों, ते दक्खिनी पहार ॥
करत कुलाहल दूरि सों, चंचल उठत उतंग ।
एक दूसरी सों जहाँ, खाइ चपेट तरंग ॥
अति अगाध विलसत सलिल-छटा अटल अभिराम ।
मन भावन पावन परम, ते सरि संगम धाम ॥

—उत्तररामचरित ।

कितनी ही जंगली जातियाँ वृक्षों को देवता मान कर पूजती हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जब हम अकेले अरण्यों में जाते हैं तब यदि कोई एक वृक्ष हम से वार्तालाप करनें लगे तो हमें उसका कुतूहल होगा और आनंद भी होगा। दिन के समय किसी घोरतर अरण्य में जाने से एक तरह का भय भी मालूम होता है ।

जहाँ तरुपल्लवश्री का साम्राज्य है वहाँ पानी का स्थल अवश्य ही निकट होता है। नदी, सरोवर, निर्भर इत्यादि जहाँ होते हैं वहाँ की वनज सुंदरता अत्यंत गंभीर होती है। मेघमंडल में घन उमड़ कर नीलाकाश की शोभा बढ़ाते हैं। प्रातःकाल के अंधकारमय कुहरे में सरोवर और नदियों का निर्मल जल स्फटिक के समान चमकीला दिखतो है। पानी वनस्पति जगत् का जीवन है। पानी के आधार पर बड़े बड़े मैदान हरे भरे दिखाई देते हैं। पानी के नित्य प्रवाह से नर्मदा नदी के काटे हुए बड़े बड़े पर्वत और पत्थर जबलपुर ज़िले में भेडा घाट के पास देखने से अद्वितीय दृश्य और प्रकृति की कार्य्य-कुशलता का परिचय मिलता है।

महानदी का दर्शन तथा विस्तीर्ण सरोवर का अवलोकन थके हुए पांथ को विश्राम देता है। जलाशय में अवगाहन अत्यंत श्रमहारक और तापनिवारक है। जलागार के सुख का वर्णन महाकवि कालिदास ने बहुत ही मनोहर किया है—

सुभग सलिलावगाहाः पाटलसंसर्ग-सुरभि-वनवाताः।
प्रच्छाय-सुलभनिद्रा दिवसाः परिणाम रमणीया ॥

भाव—सुंदर स्वच्छ और गहरे जलाशय में मनमाना डूब डूब कर नहाना सुख देता है। वनोपवनों में से पाटल पुष्पों की सुगंधि से भरी मंद शीतल पवन आनंद देती है। गहरी छाया में नींद तुरंत आ जाती है और सायंकाल का समय नितांत रमणीय होता है। ऐसे ग्रीष्म काल के दिन होते हैं।

समुद्रयात्रा करनेवालों को समुद्र बड़ा प्रिय मालूम होता है। आकाश की अपेक्षा समुद्र अधिक स्वाधीन और ऐश्वर्य-शाली है। समुद्र का किनारा अनंत जीवों से तथा वनस्पति से भरा होता है। उनमें से कितने ही प्राणी ज्वार भाटे की राह देखते रहते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिन्हें समुद्र की लहरों ने समुद्र से बाहर ज़ोर से निकाल कर फेंक दिया है। समुद्र-तट पर खड़े रहने से समुद्र के निकट रहनेवाले पक्षियों का कर्णविदारी भयकारी शब्द सुनाई देता है। समुद्र की वायु का स्पर्श होते ही शरीर में फुर्ती पैदा होती है और काम करने की इच्छा हो आती है।

समुद्र का स्वरूप नित्य बदला करता है। प्रातःकाल से सायंकाल तक उसमें कितने ही उलट फेर हो जाते हैं। कल्पना कीजिए कि हमारा निवास समुद्र-तट पर है और हम अपने मकान की खिड़की में बैठे नीचे देख रहे हैं। खिड़की के नीचे ही छोटा मैदान है और उसके आगे पृथ्वी नीची होती चली गई है और उसके अनंतर बहुत बड़ा विस्तार है। सामने समुद्र के मध्य एक कोस की दूरी पर पीली बालुका से सुंदर दिखने-वाली टेकड़ियाँ हैं। इधर भगवान् मरीचीमाली सूर्यनारायण उदय होकर अपनी झिलमिलाती हुई किरणों से समुद्र के विस्तीर्ण प्रदेश को प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे जैसे सूर्यनारा-यण ऊपर आते हैं समुद्र प्रदेश प्रकाशित होता जाता है। दूर के उन्नत भाग कुहरे के घन पटल में ढँक जाते हैं। लगभग

नौ बजे के समय समुद्र का रंग फीका होने लगता है। आकाश नीले रंग का दिखने लगता है और जहाँ तहाँ मेघ धुनी हुई स्वच्छ रुई के गोलों की तरह फैले हुए दिखाई देते हैं। सामने के पथरीले प्रदेश की तराई में खेत, जंगल, पत्थरों की कानें और पत्थरों के पर्त दिखाई देते हैं। उनकी चट्टानें टूटी हुई हैं। वहाँ प्रकाश न होने से छाया में वे मंद दिखते हैं। दोपहर के समय समुद्र अपना रंग बदल लेता है। अब वह बिलकुल गहरा नीला जामा पहने दिखाई देता है और सामने के द्वीप में छायामय अरण्य, हरी दूब से भरे मैदान और पीले रंग के खेत साफ़ दिखने लगते हैं। टूटी चट्टानों के भाग भी स्पष्ट दिखने लगते हैं और मछुओं की डोंगियाँ और काले बादबान दृष्टिगोचर होते हैं।

समुद्र का यह स्वरूप बहुत समय तक नहीं टिकता। अचानक आकाश में बादल छा जाते हैं। हवा ज़ोर से बहने लगती है और तूफ़ान के चिह्न दिखाई देते हैं। वृक्षों के पत्तों पर गिरती हुई पानी की बूँदों की टपटप आवाज़ सुनाई देती है और सामने का किनारा मानों तूफान के भय से छिप जाता है। अब समुद्र का रंग काला हो जाता है, और वह खौलता हुआ गंभीर गर्जन करता है। जब वह शांत हो जाता है तब फिर घननील सा रंग धारण करता है और सूर्य अस्त होने के पूर्व उस पर फीकापन छा जाता तथा अस्तभानु के समय फिर एक नई सुनहली छटा से उज्ज्वल और

चमकीला बन जाता है। इस प्रकार समुद्र के रंग दिन भर बदलते ही रहते हैं।

समुद्र की शोभा में रात्रि के समय भी भाँति भाँति के परिवर्तन होते रहते हैं। कभी घना अँधेरा छा जाता है, कभी अनंत तारागणों से शोभित आकाश के सामने वह प्रशांत दर्पण की नाईं स्थिर दिखाई देता है, कभी चंद्र की सुंदर चाँदनी में सारा विश्व धोकर धवल और शीतल बन जाता है।

कभी तूफ़ान के समय आकाश में इंद्रधनुष दिखाई देता है। इस इंद्रधनुष को अत्यंत सुंदर और प्राकृतिक रंगों का समूह बड़ी सुघर मिलावट से बना हुआ देख नेत्र सुखी हो जाते हैं। यह एक प्रकृति की बनाई हुई अद्वितीय वस्तु है। जिस रँगरेज़ ने इंद्रधनुष के रंग को रँगा है वह कोई अद्वितीय कारीगर है।

आरक्त रंग विलसै गहरा सबों में।
पीला दिखे कनक सा फिर बीच ही में।
नारंगि सा, हरित भी घननील कांती,
देखो सुइंद्रधनु की छबि ये सुहाती॥

—टॉम्सन।

रंगों के ज्ञान का महत्व भली भाँति हमारी समझ में नहीं आता। यदि रंग का ज्ञान न होता तो छाया, आकार, प्रकाश इत्यादि की सहायता से जुदे जुदे पदार्थों की पहिचान कठिन हो जाती। तथापि जिस समय हम अपने आपसे यह प्रश्न करते हैं कि सौंदर्य क्या वस्तु है? तो तुरंत ही सहज

रीति से हमारे मन में भिन्न भिन्न रंगों के पक्षी, चिड़ियाँ, पतंगे, पुष्प, रत्न, आकाश इंद्रधनुष इत्यादि चमत्कारिक पदार्थों की कल्पना होती है।

प्रकृति देवी ने हमें जो ज्ञानेंद्रियाँ दी हैं यह उसकी हम पर बड़ी कृपा है, बड़ा उपकार है। कान न होते और श्रवण की शक्ति न होती तो संसार का सुस्वर संगीत, प्रेमीजनों का मधुर वार्तालाप और वाद्यों की मनोहर ध्वनि हमारे लिये कुछ नहीं थी। हमारे नेत्रों की रचना में एक तिल भर फ़र्क़ हो जाता तो इस विशाल विश्व का वैभव, पदार्थों के सुंदर आकार, रंगों की चमक दमक, प्रकृति की वनशोभा, पर्वत, नदी, सरोवर इत्यादि के प्राकृतिक दृश्य देखने से हम वंचित रह जाते। रसनेंद्रिय के अभाव से सुंदर सुस्वादु खाद्य पदार्थ हमारे लिये नष्ट हो जाते। इस प्रकार प्रकृति के संपादित किए हुए संपूर्ण सुख साधनों का उपभोग हमें कदाच न मिलता।

सौंदर्योपासक रस्किन ने लिखा है कि पर्वतों की ओर देखते ही मालूम होता है कि उन्हें तो ईश्वर ने केवल मनुष्य ही के लिये रचा है। मनुष्यों की शिक्षा के विद्यालय, भक्ति के मंदिर, ज्ञान की पिपासा तृप्त करने के लिये ज्ञान निर्झरों से पूर्ण, ध्यानस्थ होने के लिये प्रशांत और निर्जन मठ और ईश्वराराधन के लिये पवित्र देवालय हैं। इन प्रकांड देवालयों के चट्टानों के द्वार हैं, मेघों का फर्श, ऊँचे गिरि-शिखरों से जलप्रपातों की गर्जना ही संकीर्तन, बर्फ़ के थरों से बने हुए चबूतरे

ही यज्ञवेदियाँ और अनंत तारक पुंजों से विशोभित नीले आकाश का शामियाना है।

है विश्वमंदिर विशाल सुरम्य सारा।
अत्यंत चित्तहर निर्मित ईश द्वारा॥
जो लोग प्रेक्षक यहाँ पर आ गए हैं।
गँभीर विश्व लख विस्मित वे हुए हैं॥—कुसुमांजलि।

आकाश की सुंदरता मन को मुग्ध कर देती है। जिस समय मन उदास हो और चैन न पड़ती हो उस समय अपने मन को प्रसन्न करने के लिये सुंदर विशाल आकाश-मंडल की ओर देखो। यदि दोपहर का समय है तो आकाश का नीला गबज और इतस्ततः फैले हुए बादल उसे विचित्र बनाते हैं। प्रातःकाल और सायंकाल के समय के आकाश का दर्शन तो सर्वदा ही विलोकनीय होता है। रात्रि का समय है तो आकाश के ऐश्वर्य का कहना ही क्या है! वह तेजस्वी तारागणों से भरा मानों रत्नों से भरे थाल की भाँति दिखाई देता है। उनका नियमित अस्तोदय, उनका भ्रमण, उनकी गति इत्यादि देख कर कुतूहल होता है और ईश्वर की अनंतता और विश्व-निर्माण शक्ति देख कर उसके विषय में पूज्य भाव पैदा होता है। जिस समय हम ताराओं की ओर देखते हैं वे हमें स्थिर और शांत दिखाई देते हैं परंतु वे उस समय कल्पनातीत वेग से यात्रा करते रहते हैं। यह चमत्कार स्वप्न में भी हमारी समझ में नहीं आता!

संपूर्ण आकाश मंडल में दस करोड़ से अधिक तारे हैं। सिवाय इसके कितने ही ग्रहों के उपग्रह भी हैं। इतना ही नहीं किंतु जिनका अब तेज नष्ट हो गया है ऐसे अनेक गोले आकाश में हैं। वे अपने समय में सूर्य के समान प्रकाशमान् थे, परंतु अब तेजहीन और शीतल हो गए हैं। एक वैज्ञानिक कहता है कि हमारा सूर्य भी लगभग एक करोड़ सत्तर लाख बरस के बाद वैसा ही तेजहीन हो जायगा। धूमकेतु अर्थात् पूँछलतारे भी आकाश में हैं। उनमें से थोड़े ही दूरबीन के विना दिख सकते हैं। इनको छोड़ आकाश में भ्रमण करनेवाले अनंत तारापुंज हैं जो हमारी दृष्टि से बाहर हैं।

ताराओं की अनंत संख्या को देख मनुष्य कुंठित हो जाता है। फिर उनके विशाल आकार और एक दूसरे की दूरी का ज्ञान होने पर उसका क्या हाल होता होगा, इसका पूछना ही क्या है। समुद्र अत्यंत विस्तृत और गहरा है और उसे असीम कहने की प्रथा है, परंतु आकाश से यदि समुद्र की तुलना की जाय तो समुद्र क्षुद्र प्रतीत होता है। महाकाय बृहस्पति और शनि की तुलना पृथ्वी से कीजिए तो पृथ्वी बिलकुल छोटी मालूम होगी और सूर्य से उन दो ग्रहों का साम्य किया जाय तो सूर्य के सामने वे बिलकुल छोटे दिखाई देते हैं। संपूर्ण सूर्यमाला की यदि अपने नित्य के सूर्य की तुलना की जाय तो वह कुछ भी नहीं है। सिरियस नामक एक ग्रह इस सूर्य से भी हज़ारों गुना विशाल और लाखों कोस दूर है। यह सूर्यमाला आकाश

के एक छोटे से प्रदेश में घूमती रहती है । इस सूर्यमाला के चारों ओर दूसरी ऐसी ही बड़ी बड़ी ग्रहमालाएँ भ्रमण कर रही हैं। ताराओं में से कितने ही इतनी दूरी पर हैं कि प्रकाश की गति एक सेकंड में एक लाख अस्सी हज़ार मील होने पर भी उनका प्रकाश हमारी पृथ्वी तक पहुँचने के लिये बरसों का समय लगता है। इन ताराओं के परे और भी बहुत ग्रह हैं परंतु वे अत्यंत दूर हैं, इस कारण नज़र नहीं आते । दूरबीन से देखने पर भी वे कुहरे की तरह धुँधले दिखते हैं । यद्यपि वैज्ञानिकों ने विश्व की अनंतता में घुस कर बहुत कुछ चमत्कारों का पता लगाया है परंतु उससे उसकी सीमा का पार नहीं मालूम हुआ है, तथापि वे चमत्कार चित्त को हरनेवाले और मनुष्य के आनंद के प्रवाहों के नित्य बहनेवाले झरने हैं। इस लिये उन चमत्कारों के अनुभव से संसार के क्षुद्र दुःख और बाधाओं की परवाह नहीं करनी चाहिए।

१९—जीवन के क्लेश

इस जीवन में हमें बहुतेरे क्लेश, दुःख और बाधाएँ होती हैं और इन बाधाओं के भेद भी बहुत से होते हैं। कितने ही दुःख विशेषतः वे जिन्हें हम अपनी ही करतूतों के कारण अपने लिये मोल ले लेते हैं, सच्चे दुःख होते हैं। परंतु कितने ही दुःख तो बिलकुल व्यर्थ और झूठे होते हैं। अगर हमने उनकी कुछ परवाह न की तो हमें प्रतीत होगा कि वे केवल हमारी कल्पना की लीला हैं। मनुष्य दुःख की परछाँई से डर कर अपना चित्त उदासीन बना लेता है।

लखि लखि छाया आपनी, शंकित मन ह्वै जाय।
लक्षण है यह मोह का, भूलि आप ही जाय॥
बोलत ही मुख तें वचन, प्रति-उत्तर मिलि जात।
अँगुरी दृग पै धरत ही, इक के द्वै ह्वै जात॥
जो कल्पित रचना रची, वही उपस्थित होत।
दास कहैं बाधक सबै, शंकित मन को होत॥

—दास।

सांसारिक बाधाओं में से कुछ बाधाएँ यद्यपि हानि करने वाली होती हैं तथापि वे सच्ची बाधाएँ नहीं हैं और कभी कभी सच्ची बाधा के रहते हुए भी उससे हमें हानि नहीं होती।

"जिस समय जगत् के संतापों से मन विच्छिन्न और उदा-

लीन हो जाता है उस समय वह स्थिर नहीं रहता प्रत्युत आपत्ति रूपी गहरे गर्त में कूद पड़ता है। मनुष्य के मन की स्वाभाविक इच्छा अनंत सुख के भोग करने की है। इस स्वभाव को भूल कर यदि वह दृश्य जगत् के विविध संतापों में लीन हो जाय तो उसके भाग्य में सिवा शोक के और कुछ नहीं आवेगा।"

हमें चाहिए कि हम अपनी वृत्ति को शांत और सहनशील बनाए रक्खें। मन की वृत्ति को विवेकपूर्ण रखने से जिस प्रकार सुदामा को अपने दारिद्र्य का, हरिश्चंद्र को नीच-सेवा का, प्रह्लाद को अपमान का और शिवाजी को कारागृह का दुःख मालूम नहीं हुआ उसी तरह हमें भी बाधाओं का दुःख प्रतीत नहीं होगा। इतना ही नहीं, किंतु उन सत्पुरुषों की तरह हम भी सद्गुणों से विमुख नहीं होंगे। इसलिये बाह्य उपाधियों पर निर्भर होने की हमें आवश्यकता नहीं है।

सुख का स्थान मन है। मन के बाहर वह नहीं है। जिस प्रकार मन की भावना होगी उसी प्रकार मनुष्य को सुख अथवा दुःख होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।"

मार्कस अरीलियस का कथन है कि—"बहुधा मनुष्य के मन के हेतु और विचार पर सब कुछ भला और बुरा होता है। जिस बात से मनुष्य दुर्जन नहीं बनता उससे उसका जीवन निंदनीय क्योंकर हो सकता है? दुर्जन और सज्जन

दोनों को मृत्यु आती है। नामवरी और बदनामी, मान और अपमान सुख और दुःख ये दोनों को एक से ही प्राप्त होते हैं, परंतु उससे दुर्जन से कोई सज्जन नहीं वनता और न सज्जन से दुर्जन ही वनता है।

हमारे बड़े बड़े दुःखों की उत्पत्ति हमारे मन ही में होती है। इस लिये हमको महा सुख की खोज उसी जगह करनी चाहिए।

भविष्यत् में क्या होगा, यह बात जब हमारी समझ में नहीं आती तब भावी संकट का स्वरूप हमें विशाल क्यों मालूम होता है और हम उसके भय से व्याकुल क्यों होते हैं। जिस समय किसी संकट का महत्व हम समझ लेते हैं उस समय उसके भय की मात्रा आधी ही रह जाती है। यही कारण है कि चोरों के भय की अपेक्षा पिशाचों का डर हमें अधिक मालूम होता है, क्योंकि उनके रूप, स्थान, शक्ति और लीला इत्यादि का हमें कुछ भी ठीक अनुमान नहीं होता।

हम हमेशा आपत्ति के रूप को अपनी कल्पना से बढ़ा कर देखते हैं। इस कारण वास्तव में जैसी वे होती हैं उससे अधिक भीषण वे हमें प्रतीत होती हैं। बेकन ने कहा है—"कोई आपत्ति हो वह एक बार क्षुद्र मालूम हो जाय फिर वह सचमुच क्षुद्र बन जाती है। आपत्तियों ने आज तक मानव-जाति को भय मात्र दिखाया है। आपत्ति को देखते ही हमें चाहिए कि हम उसे आधी राह में ही जा मिलें। बैठ कर

उसकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस प्रकार बहुत समय तक उसकी राह देखते रहने से हमें नींद आ जाने की संभावना है अर्थात् हमारा उसकी ओर से ग़ाफ़िल हो जाना संभव है।

दूरदर्शिता से आनेवाले संकट को जान लेना ही बुद्धिमानी है। परंतु उसके प्राप्त होने के पहले ही दुःख करने के बराबर दूसरी मूर्खता नहीं है। कभी कभी जान बूझ कर अथवा न जान कर हम कुमार्ग पर चले जाते हैं परंतु क्या फिर ठीक राह पर आने की संभावना ही नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानवान् लोग 'हाँ' ही कहते हैं।

बुरे कर्म जहाँ तक हो सके टालने चाहिएँ और यदि किसी के हाथ से दुष्ट कर्म बन ही जाय तो उसके लिये उसे दंड मिलना न्याय-संमत है।

स्वार्थ दृष्टि रखना हमारे आचरण में एक बड़ा दोष है। लोग कहते हैं कि उससे संपूर्ण समाज के सुख में बाधा पैदा होती है, परंतु यह सर्वथा सत्य नहीं है। गेते कहा करता था कि हर एक मनुष्य को चाहिए कि वह पहले स्वार्थ देखे और अपने सुख के लिये इतना तत्पर हो कि जिससे अंत में संपूर्ण समाज को सुख हो। इस कथन का विरोध करने-वाले वाक्य भी मिलेंगे परंतु वास्तव में देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य यदि नियत व्यवहार करे और अपनी शारीरिक संपत्ति की योग्य प्रकार से रक्षा करे और अपने को और अपने घर

को सर्वदा आनंदित वृत्ति में रक्खे, जो क्षुद्र कारण उसके गृह सुख के नाश के कारण होते हैं उन्हें अवकाश ही न दे, अपना व्यवसाय ईमानदारी से चलावे और नियत वर्ताव रख कर अपनी सचाई का पालन करे तो कदाचित् ऐसे व्यवहार को कोई उदारता भले ही न कहे परंतु उससे उसके कुटुंब को, आप्तवर्ग को और मित्रों को सुख ही होगा।

दुष्ट आचरणों से मनुष्य के सुखों की कभी पूर्ति न होगी, यह तत्व यदि सब लोगों के हृदय-पटलों पर भली तरह अंकित हो जाय तो मानवजाति का बड़ा लाभ हो। यह तत्व हम बहुधा छोटे बालकों पर लगाते हैं। जो लड़का लाड़ चाव से बिगड़ जाता है उसे कभी सुख नहीं होता। यदि उसे प्रथम अपराध ही के लिये दंड मिल जाय तो फिर जन्म भर उसकी जीवन-यात्रा सुखमय होगी।

यदि कोई कहे कि हमारे जीवन का सच्चा मर्म इतना ही है कि हमें आगे चल कर उत्तम लोक की प्राप्ति हो और उसे भोगने की पात्रता हमको प्राप्त होवे इस लिये यह जीव दशा हमें दी गई है; परंतु आगामी सुखोपभोग के लिये यदि जीव-दशा प्रथम भूमिका है, तो हमें इस जीवन का निषेध और धिक्कार क्यों करना चाहिए? जब तक दही का भली तरह मंथन न किया जाय तब तक मक्खन मिलना कठिन है, उसी तरह कितने ही लोग जीवन के क्लेशों के सिवा अपने सद्गुणों का अवलंब नहीं करते।

यदि हम कल्पना करें कि सुखों के जो साधन हमारे हाथ में हैं वे हमारे स्वाधीन नहीं हैं और यह बात यदि हम स्मरण रक्खें कि मनुष्य बीमार पड़ने पर आरोग्यता की, युद्ध के समय शांति की और बड़े बड़े शहरों में परदेशी और अप्रसिद्ध लोगों को मित्रों की कितनी आवश्यकता होती है और ये इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होकर फिर नष्ट हो जाँय तो कितना असह्य कष्ट होता है, तो हमें शांति और संतोष होगा। क्योंकि इस प्रकार विचार करने से ये सुखों के साधन हमारे हस्तगत होने पर तिनके की तरह क्षुद्र प्रतीत होंगे और कारण वश यदि हम उनसे दूर हो जावें तो इतना दुःख भी न होगा। यदि हम अपनी स्थिति की ओर निहारें अथवा अपने से भी नीचतर लोगों की ओर देखें तो हमें शांति होगी क्योंकि "उपर्युपरि पश्यंतः सर्व एव दरिद्रता।"

अपने से बड़ों की हालत को देख स्वयं अपने को दरिद्र कौन नहीं पाता? परंतु मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा है कि प्राप्त वैभव से संतुष्ट न होकर अधिक ऐश्वर्य की इच्छा करके वह अपने ही आपको असंतुष्ट और दुखी बना लेता है। उचित तो यह है कि जब कोई धनपति पालकी में बैठा जा रहा हो तब थोड़ी नीची निगाह करके वह उन लोगों की तरफ़ देखे जो पालकी को अपने कंधों पर उठाए ले जा रहे हैं।

एक समय किसी गृहस्थ ने किसी त्योहार के दिन बड़ी उत्तम पोशाक पहिन कर अपनी शान दिखाने की तैयारी

की। उससे एक बुद्धिमान् पुरुष ने कहा—"कहिए महाशय ! आज इतनी वेशभूषा करने की क्या आवश्यता है ? क्या ज्ञानवान लोग हर एक दिवस को उत्सव ही का दिन नहीं मानते ?" तात्पर्य यह कि यदि यह जीव दशा आगामी सुख की पूर्व भूमिका है तो हमारा मन सर्वदा आनंदमय, शांत और स्थिर रहना चाहिए। इस जीवन-यात्रा का गुह्यतम रूप यदि हमने जान लिया तो हम उसकी शिकायत नहीं करेंगे किंतु गत सुखों का स्मरण करके परमेश्वर के कृतज्ञ होते रहेंगे और शंकित न रह कर, निर्भय और आनंद से आशायुक्त होकर आगामी स्थिति के लिये तैय्यार रहेंगे।

२०—श्रम और विश्राम

"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"

भाव—सफल परिश्रमों का क्लेश दुखदाई नहीं होता किंतु नवीन उद्यम के लिये अधिक ही उत्साह देता है।

संसारयात्रा में श्रम की गिनती आपत्तियों में नहीं हो सकती क्योंकि यदि हम शक्तिभर परिश्रम करें तो उससे हमें सुख ही होगा। जब हम किसी उद्यम में लग जाते हैं तब हमारा समय इतना शीघ्र निकल जाता है कि हमें उसका ख्याल तक नहीं होता। इसके विपरीत जब हम निरुद्यम और आलसी होते हैं तो हमारा समय बीतने नहीं आता, वह हमारे लिये नितांत भारी और कष्टदायक हो जाता है। कार्य करने में मन लगा हुआ होने से चिंता और छोटी बड़ी सांसारिक बाधाएँ हमें नहीं सतातीं। उद्यमशील मनुष्य को दुखी होकर बैठने के लिये फ़ुरसत ही नहीं मिलती।

दिन भर जो उद्यम करै, रात नींद सुख लेय।
श्रम द्वारा आनंद की, सृष्टि सदा करि देय॥
द्रव्य कमावे कष्ट करि, वह ईश्वर प्रिय होय।
पावे सुख अरु शांति को, धन्य कहै सब कोय॥ —ग्रे।

जो लोग खेतों, कारख़ानों और खानों इत्यादि में काम करते हैं उनके लिये ऊपर के विचार ठीक घटित होते हैं। कोई

कहेगा कि ये धंधे हलके हैं परंतु ऐसा नहीं है। जिस व्यवसाय में मनुष्य ईमानदारी से अपनी रोज़ी कमा ले, वही धंधा उत्तम है। प्रामाणिक उद्यम से मनुष्य में झूठी कीर्ति और महत्पद की व्यर्थ कल्पनाएँ न उठ कर उसे लालच में नहीं फँसातीं। उसे कर्तव्य के पालन से संतोष और शरीर-सुख मिलता है। इमरसन ने लिखा है कि "किसी व्यवसाय में हाथ डालने के पहले युवा लोग मान, महत्व की ऊँची आशा रखते है परंतु उनका प्राप्त होना उनके परिश्रम करके आत्म-समर्पण करने पर निर्भर है, क्योंकि "टाँकी के आघात सहे बिना देवत्व नहीं आता।"

पूर्व काल के लोगों की यह धारणा थी कि इस संसार में जो कुछ इष्ट और प्राप्य बातें हैं उनका मूल्य रुपये या अशर्फियों में स्थिर नहीं किया गया है, श्रम ही उनका मूल्य है। दृढ़ परिश्रम का गुण अलौकिक है, यह हम सब जानते हैं; फिर भी हम उसे भूल जाते हैं और "तावदुद्यम विधेयोहि यावत्कार्य न सिध्यति।" की मसल याद करते करते ही हम यत्न करने से विमुख हो जाते हैं। किसी महत्कार्य में दीर्घ प्रयत्न करने की आवश्यकता है, यह उपदेश तो मकड़ी भी अपना जाला बनाते हुए मनुष्यों को देती रहती है।

अनिर्वेदोहि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः।
करोति सफलं जंतोः कर्म यच्च करोति सः।

—रामायण।

भाव—किसी काम में प्रवृत्त होने के लिये मन की दृढ़ता ही आवश्यक है। वही उठाए हुए काम में सिद्धि की देने-वाली है।

प्लेटो ने जब अपना 'प्रजातंत्र' नामक ग्रंथ लिखा उस समय उसके पहले पृष्ठ को उसने १३ बार लिखा था तब वह उसके मन के अनुकूल हुआ। कार्लो चित्रकार ने अंटोनियस का मुख ३०० बार बनाया तब वह शांत हुआ।

आलस और निरुद्यम रूपी धूलि हमारे अंतःकरण रूपी काँच पर पड़ कर उसे मलिन कर देती है, इस लिये निठल्लेपन से मन और शरीर पर कीट चढ़ने देने की अपेक्षा वह उद्यम से छीज जाय तो अच्छा ही है।

यद्यपि श्रम मनुष्य के लिये हितकारी है तथापि सर्वदा अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करने के कारण लोग यह प्रश्न करते हैं कि "क्या हमारा जीवन इसी तरह कष्टमय रहेगा?" परंतु यह ग़लती है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने उद्योग और आराम के समय नियत कर ले। श्रम के अनंतर दिल-बहलाव, मनोरंजन होने से हमारे श्रमों को सहायता पहुँचती है और नियत समय पर उद्यम करने से फ़ुरसत का समय भी मिल सकता है।

मनुष्य यदि चाहे तो सब कुछ कर सकता है परंतु निरे चाहने से काम नहीं चलता। यदि उद्यम न हो तो फल मिलना असंभव है। उसे स्वयं परिश्रम करना चाहिए।

किसी इच्छा करने योग्य विषय की क़ीमत वस्तुतः जितनी मालूम होती है उससे आधी क़ीमत तो केवल उसके लिये होनेवाले परिश्रमों की होती है क्योंकि ऐसा न होता तो केवल इच्छा करने से ही मनुष्य विद्वान, धनी और संपन्न हो सकता था। इस लिये अपने बाहुबल पर, उद्यम के बल पर उच्च आकांक्षाओं के फल निर्भर हैं, न कि केवल इच्छा करने पर।

भगवान् मनु ने आज्ञा की है कि—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत्सेवेत यत्नतः॥
सर्वं परवशं दुःखं समात्मवशं सुखं।

—मनु।

भाव—किसी कार्य में दूसरों पर अवलंब करके नहीं रहना चाहिए। अपनी ही शक्ति और बल पर कार्य करने योग्य कामों में जुट जाना चाहिए, क्योंकि परवशता ही दुःख और स्वाधीनता ही सुख है।

संभव है कि और लोग हमारे सहायक हो सकें परंतु हमें चाहिए कि सब भार हम अपने ही ऊपर रक्खें, क्योंकि हमारा हित और लाभ दूसरों को नहीं दीखता। अपने निज के अनुकूल बातों को पूरी तरह काम में लाने के लिये हमें अपने ही विचारों के अनुसार काम करना चाहिए। ईश्वरदत्त आत्मा या अंतर्साक्षी विवेक का अनुसरण किया जाय तो सदाचार के साथ सब हेतु सफल होते हैं।

"सर्वमात्मनि संपश्येत्सदसच्च समाहितं ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यान्नाधर्मे कुरुते मनः ॥"

प्रकृति का उपदेश मनुष्य को यह है कि हे भाई ! तुझे हमेशा काम मिले अथवा न मिले तुझे चाहिए कि तू नित्य उद्यम करता जा क्योंकि उसके फल से तू कभी वंचित नहीं रहेगा, वह तुझे आप ही प्राप्त होगा। तेरा काम कारीगरी का हो या खेती का हो या महाकाव्य रचने का, तुझे अपना काम सच्चे परिश्रम और ईमानदारी से करना चाहिए और उसके करने ही से तेरे मन को धन्यता का भाव उदय हो तो निश्चय जानना कि तुझे उससे अवश्य सुख लाभ होगा। उद्योग करते करते यद्यपि तुझे बार बार सफलता न हो तथापि यह विश्वास रखना कि अंत में मुझे सफलता अवश्य ही होगी। आज्ञा है कि—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥

—मनु ।

भाव—पहले मेरे यत्न करने पर भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ इस कारण मैं अभागा हूँ, ऐसा कह कर निराश होकर अपने को तुच्छ मत समझो। आमरणांत कार्य किए जाओ। यह कदापि न समझो कि कार्य सिद्ध नहीं होगा।

किसी काम के समाप्त करने पर मन को जो संतोष और समाधान होता है, वही उसका पारितोषिक है।

जो लोग व्यवसाय में सुदीर्घ यत्न और उद्योग करते हैं और यश के भागी होते हैं उन्होंने इस जीवन में सब प्राप्य वस्तुएँ नहीं पा ली हैं, अत्यंत उद्यमी और सिद्धहस्त लोगों को भी अंत में यही मालूम होता है कि हमें अभी बहुत सा कार्य करना है और उसका आरंभ तक नहीं किया गया है और बहुत से विषय तो ऐसे हैं कि जिनको हमें प्राप्त कर लेना उचित और आवश्यक है परंतु अद्यापि हमें उनका बोध तक नहीं था। इसलिये जो कुछ कि किया गया वह कुछ भी नहीं है।

किसी अहंकार से भरे मानो राजा की अथवा यशभागी दिग्विजय करनेवाले राज्यापहारी वीर की सेवा करने योग्य न तो हमारा जीवन दीर्घायु है और न किसी घमंडी और मूढ़ की चापलूसी करके उसे प्रसन्न करने अथवा अपना अहित करनेवाले शत्रुओं का नाश करने के लिये हमारे पास पर्याप्त समय ही है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि सद्गुण, सदाचार, विनय और ईश्वर-चिंतन इत्यादि अच्छे गुण प्राप्त करने के लिये ईश्वर ने हमें पूरा समय दिया है।

हमारे अस्तित्व के लिये श्रमों की अत्यंत आवश्यकता है। प्रश्न सिर्फ़ इतना ही है कि वे परिश्रम किस प्रकार किए जाँय ? एक प्राचीन कहावत है कि जिसे यह नहीं सूझता कि क्या काम हमें करना चाहिए, उसके लिये शैतान काम निकालता है। तुर्कों में भी कहावत है कि आलसी और निठल्ले

मनुष्य को अपना दास बनाने के लिये शैतान उस पर मोहनी डालता है। परंतु सच देखा जाय तो आलसी मनुष्य स्वयं शैतान को अपना गुलाम बना लेता है।

काम करने के जुदा जुदा मार्ग हैं। काम को समझ कर जल्द कर लेना तो उत्तम ही है परंतु यदि उसे बेसमझे गड़-बड़ी और जल्दी में किया जाय तो वह बिगड़ जाता है। आकाश मंडल में तेजस्वी तारे जिस प्रकार जल्दी न करके, न ठहरते हुए भ्रमण करते हैं उसी प्रकार हमें उद्योग करते रहना चाहिए।

उद्यम करने के पश्चात् विश्राम के सुख का अनुभव करना चाहिए। श्रम करने के लिये उत्साह मिले, इस लिये विश्राम लेना चाहिए और विश्राम का योग्य अनुभव करने के हेतु परिश्रम करना चाहिए। परंतु हमारा विश्राम पत्थर की स्थिरता के समान न हो।

हमें अपनी शक्ति भर उद्यम करना चाहिए और परिश्रम करने पर निडर और शांत रह कर फल की राह देखते रहना चाहिए। जिस विचारशील मनुष्य ने सांसारिक विषयों की नित्यता और अनित्यता पर भली भाँति चिंतन किया है उसे आनंद से जीवन व्यतीत करने में, कोई प्रतिबंध सहने में, जो बात अवश्यमेव होनेवाली है उसके लिये ठहरने में और जो हो चुकी है उसे धीरज के साथ सहने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

बौद्धों का सिद्धांत है कि सद्गुणों का अंतिम फल निर्वाण अर्थात् अखंड विश्राम है।

विश्राम के सच्चे सुख का आनंद उद्यमहीन और आलसी मनुष्य को कभी प्राप्त न होगा। उत्तम श्रम के अनंतर शरीर को विश्राम सुख मिलता है, इतना ही नहीं किंतु मन प्रसन्न और प्रशांत हो जाता है। इस संसार में यदि हम सच्चे हृदय से सदाचार के मार्ग से बर्तें तो अंत में आराम अवश्य मिलेगा।

युवावस्था में श्रमों की आकांक्षा करना योग्य ही है। क्योंकि उस अवस्था में उद्योग से मन को उत्साह और आनंद मिलता है। परंतु जब हम बुढ़ापे में पदार्पण करते हैं तब हमें विश्राम और शांति की इच्छा होने लगती है।

राग जोगी।

अब प्रश्न यही एक आया। निज जीवन कैसे बिताया ?
यदि काम किया धन पाया। निज जीवन धन्य बिताया॥
यदि मात पिता सुख पाया। " " " "
यदि ज्ञान का लाभ उठाया। " " " "
तूने सत्य का पक्ष उठाया। " " " "
तू ईश-चरण चित लाया। " " " "
चिर शांति तुझे अपनाया। " " " "
अब अंत समै तेरा आया। निज जीवन कैसे बिताया ?

—सिम्मांड्स।

२१—उन्नति।

"जहाँ जहाँ मनुष्य की उन्नति बड़ी तेज़ी से हो रही है, उन उन देशों में प्राकृतिक विज्ञानों का विस्तार होकर मनुष्य की जिज्ञासा-बुद्धि दिन पर दिन यदि बढ़ती गई तो क्या क्या आश्चर्य दिखाई देंगे, इसका अनुमान क्या आज हो सकता है?"
—हर्शेल।

मनुष्य मात्र की उन्नति स्वभावतः दो तरह से होती है। समय की गति के साथ सृष्टि के जड़ पदार्थों के गुण और स्वभाव के विषय में तथा अपने सामने और चारों तरफ़ होनेवाले प्राकृतिक चमत्कारों के विषय में अधिक ज्ञान होता जायगा तो जिन जिन बातों की अनुकूलता और सुसाध्यता हमें प्राप्त है उससे अधिक सुभीता हमारी संतानो को प्राप्त होगा; यह तो उन्नति का एक साधन हुआ। दूसरे शिक्षा प्रणाली में सुधार और शिक्षा का सर्वत्र प्रचार होने से विज्ञान, कला, काव्य, गीत और धर्म इत्यादि की सहायता से मनुष्य जाति की सभ्यता और सज्जनता का संस्कार होकर उसकी उन्नति होगी और वह अपने अनुकूल सुख सामग्री का उपभोग करने के लिये विशेष रूप से पात्र और स्वावलंबी होकर 'ज्ञान के अंतर्गत आनंद' के तत्व को भली तरह समझने योग्य होगा।

यह समझने के कारण मनुष्य के उत्कर्ष की प्रगति नहीं हुई है कि जो कुछ ईश्वरनिर्मित है उसमें सुधार करने का साहस करना केवल ईश्वर की सर्वशक्ति को क्षुद्र मानना है। मनुष्य ने बहुत सी बातों की खोज करके नवीन आविष्कार किए हैं परंतु उसे उसके कारण दंड दिया गया हो, ऐसा कहीं सुनने में नहीं आया। तब तो भोले भाले लोगों ने यह बात चलाई कि ऐसे ऐसे आविष्कारों से मनुष्य जाति के सुख और शांति की बढ़ती होती जाय यही परमेश्वर का हेतु होने से वैसे आविष्कारों का मनुष्य को पता लगा। अब तक भी वह कल्पना नष्ट नहीं हुई है। चीर फाड़ की क्रिया करते समय क्लोरोफार्म का उपयोग करने के विषय में कितने ही डाक्टर लोग इँगलैंड में अभी तक संदेह करते हैं। क्योंकि उनकी यह समझ है कि समय समय पर मनुष्य जो दुःख भोगते हैं वे ईश्वर ने क़ायम और निश्चित कर रक्खे हैं। उनका यदि मनुष्य प्रतिकार करे तो उसे ईश्वर की आज्ञा भंग करने का अपराधी बनना होगा।

कितने ही लोगों का यह कहना है कि आधुनिक समय में बड़ी बड़ी नई बातें खोजकर प्रकाशित की गई हैं फिर भी अंत में कुछ ऐसे प्रश्न निकलेंगे कि उनका निश्चित उत्तर मनुष्य की परिमित बुद्धि न दे सकेगी। परंतु यह कहना उचित न होगा। एम०कास्टे नामक एक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने सन् १८४२ में यह सिद्धांत निकाला कि ग्रहों के

आकार, दूरी और गति इत्यादि का हिसाब मनुष्य लगा सकता है परंतु उनकी रचना के द्रव्यों का पता लगाना आशा के बाहर है । इस सिद्धांत को स्थिर किए बहुत वर्ष नहीं बीते थे कि वैज्ञानिकों ने ग्रहों के रचना-द्रव्य का पता लगा लिया और अब तो लोग 'चंद्रलोक की यात्रा' तक करने लगे । इस लिये कोई एक सिद्धांत क़ायम कर देना उचित नहीं ।

ज्ञान का महासागर अत्यंत विस्तारमय है । अभी तक उसकी सीमा का पता किसी को नहीं लगा । परंतु इस आधुनिक समय में बड़े बड़े आविष्कारों का संयोग प्राप्त हुआ है, यह बात कौन नहीं मानेगा ? कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी एक मनुष्य को एक बड़े नवीन आविष्कार का पता लगा परंतु किसी क्षुद्र कारण से उसका उपयोग उसकी समझ में नहीं आया । बिजली को ही लीजिए । निर्वात किए हुए किसी काँच के बर्तन में एक कोयले का टुकड़ा रख कर बिजली से उसे जला दीजिए तो वह उत्तम प्रकाश देगा । परंतु वह काँच का बर्तन उसकी गर्मी से यदि फूट जाय तो हमें उस दीपक से कुछ भी लाभ न होगा । इतनी बात का ज्ञान होकर रह गया और बहुत बरस बीत गए । इन दिनों एडिसन ने उसी कोयले के टुकड़े को सूक्ष्म और पतला करके बिजली के प्रवाह से उसे जलाया तो मनमाना प्रकाश उत्पन्न होकर गर्मी का नाम तक पैदा नहीं हुआ । अब

तक जो नई बातें मालूम हुई हैं वे बड़े महत्व की हैं परंतु उनका पता क्रमशः कालांतर में लगा है । सर हम्फ्रे डेवी नामक विज्ञानवेत्ता ने इस शताब्दी के आरंभ में 'हास्य वायु' नामक वस्तु का आविष्कार किया। इस पदार्थ को मनुष्य को सुँघा देने से उसके शरीर को क्लेश न होकर उसे ऐंद्रियज्ञान द्वारा होनेवाली वेदना मालूम नहीं होती। वस्तुतः इस वायु का ज्ञान बहुत दिनों से डाक्टर लोगों को था, विद्यार्थियों को उसका ज्ञान कराया जाता था परंतु उसका परिचय होने के पश्चात् पचास बरस तक उसका उपयोग चीर फाड़ के काम में नहीं किया जाता था।

पंद्रवहीं शताब्दी में छापने की कला का आविष्कार हुआ। परंतु यह कला उसके पहले बहुत समय से मनुष्यों को मालूम थी। रोमन लोग सिक्के का उपयोग करते थे। उसी प्रकार असीरियन लोग अपने राजाओं के नाम इमारतों और स्मारकों पर छाप रखते थे । जिस आविष्कारकर्ता ने छापने की कला का पहले उपयोग ढूँढ़ निकाला उसने पहले से ज्ञात कला में सिर्फ इतना ही फ़र्क किया कि भिन्न भिन्न शब्दों के साँचों की जगह भिन्न भिन्न अक्षरों के साँचे तैयार किए। इस प्रकार थोड़े से परिवर्तन से छापने की कला का उदय हुआ। परंतु उसे इस रूप में आने के लिये तीन हज़ार वर्ष का समय लगा।

प्राकृतिक चमत्कार साधारणतः कितने विचित्र और

अनंत होते हैं, इसका ज्ञान अभी हमें कुछ कुछ होने लगा है और आशा है कि समय बीतने पर मन को कुंठित करनेवाले प्राकृतिक चमत्कारों का मनुष्य जाति को विशेष ज्ञान होगा। इस समय जो सूक्ष्म-दर्शक यंत्र है जिसे खुर्दबीन कहते हैं उसमें और भी सुधार होगा। उसका नए नए आविष्कारों में किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, यह बात जानी जायगी परंतु जिन अणुओं की प्रत्येक वस्तु बनी है वे इतने सूक्ष्म और बारीक हैं कि इस विशेष उपाय से भी उनके गुणों का ज्ञान हमें होगा, इस बात का अनुमान करना अत्यंत कठिन है। इन अणुओं का आकार $\frac{१}{५०,००,०००}$ के बराबर है, यह एक विज्ञान-कर्ता ने निश्चित किया है। खुर्दबीन में कितनी ही नई बातों का सुधार हो जाय तो भी इन अणुओं का हमें कुछ अधिक ज्ञान होने की संभावना नहीं दिखती। एक इंच के $\frac{१}{६००००}$ दूरी पर काँच पर रेखाएँ खींची जाँय तो वे इस समय के सूक्ष्म-दर्शक यंत्रों के द्वारा दिख सकती हैं। परंतु प्रकाश का ऐसा कुछ खास गुण है कि जिस सूक्ष्म पदार्थ का आकार $\frac{१}{१००,०००}$ से कम है वे हमें दिखाई ही नहीं दे सकते। यदि खुर्दबीन ने और उन्नति की तो भी प्रकाश के स्वाभाविक गुण हम बदल नहीं सकेंगे और अणुओं का भी हमें कुछ विशेष ज्ञान नहीं होगा।

अलब्युमेन नामक पदार्थ के एक कण में जिसकी मध्य रेखा

की लंबाई $\frac{१}{८००००}$ हो तो बारह करोड़ पचास लाख अणु होंगे। पानी के कणों में तो आठ अरब अणु हैं। इस कारण यदि सूक्ष्मदर्शक यंत्र की दर्शक शक्ति और भी बढ़ाई जाय तो भी इन अणुओं को देख कर इस जगत् की रचना की कुछ कल्पना हमें होगी, यह संभव नहीं मालूम होता। जो ध्वनियाँ हम नहीं सुन सकते वे अनेक जानवरों को सुनाई पड़ती हैं।

इन बातों से यह अनुमान होता है कि यह दृश्य जगत् जिस रूप में हमें दिखाई देता है उससे भिन्न दूसरे प्राणियों को दिखाई देता होगा। हमारे कानों में जो मृदंग की पूडी की तरह बारीक पर्दा है उस पर हवा की लहरों का आघात होकर आवाज़ सुनाई पड़ती है। जब ये लहरें थोड़ी होती हैं, उस समय हल्की ध्वनि सुनाई देती है। उन्हीं की अधिकता होने से कठोर ध्वनि सुनाई देती है और एक सेकेंड में वायु की चालीस हज़ार लहरों का आघात जब उस पर्दे पर होता है तो कोई आवाज़ ही सुनाई नहीं पड़ती। उसी तरह प्रकाश की लहरें आँखों पर पड़ कर जो ज्ञान होता है वह प्रकाश का ज्ञान कहाता है। एक सेकेंड में चालीस करोड़ लहरों का आघात आँख की पुतलियों पर होने से लाल किरमिजी रंग का ज्ञान हमें होता है और वे लहरें जैसे जैसे बढ़ती जाती हैं वैसे वैसे नारंगी, पीला, हरा, नीला इत्यादि रंग क्रमशः दिखाई देता है। परंतु ४० हज़ार से ४० करोड़ तक की किसी

संख्या के बराबर लहरों का आँख पर आघात होने पर जो कुछ दिखाई देना संभव है, हमारी आँखों में उसे देखने की शक्ति ही नहीं है। हमारे पाँच इंद्रियाँ हैं, इससे अधिक नहीं। इस लिये इस अनंत विश्व के चमत्कारों का पता हमें पूरी तरह लग जावे, यह बात हमारी नियमित शक्ति के बाहर है।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी देखा गया है कि कितने ही प्राणियों की इंद्रियाँ कम होकर उनमें कई स्नायु ऐसे हैं जो ज्ञानेंद्रियों का काम देते हैं। उनके कार्य और व्यवस्था का हमें तनिक भी ज्ञान नहीं है। क्या ठीक है यदि उनके और अधिक इंद्रियाँ हों और वे हमारी पाँच इंद्रियों से भिन्न हों और उनमें अनंत ध्वनि और अनंत रंगों के देखने की पात्रता हो, जिनके देखने और सुनने की हम में शक्ति नहीं है। यह और ऐसे हज़ारों जटिल प्रश्नों का अभी हल होना बाक़ी है।

मसाला भरे हुए पक्षी और प्राणियों के कलेवर काँच की अलमारियों में सजा कर रखना तथा भाँति भाँति के कीड़े और सूखी हुई वनस्पतियों के नमूने सजा कर दिखाना उन उन पदार्थों का ज्ञान कराने की केवल एक तरकीब है। उससे उन पदार्थों का सच्चा ज्ञान नहीं होता। इन प्राणियों के और वनस्पतियों के स्थिर स्वभाव और व्यवहार ध्यानपूर्वक देख कर उनके परस्पर संबंध तथा पशुबुद्धि के चमत्कार ताड़ लेना, उन्हें हमारा जगत् किस तरह का दिखता है इसकी खोज करना आदि बातें जानना प्राणिशास्त्र का सच्चा रहस्य जानने

के बराबर है। इन प्राणियों का हमें इस प्रकार पूर्ण ज्ञान हो जाय तो जिन इंद्रियों तथा अनुभवों की हमें ख़बर तक नहीं है उनका पता चल जाने की संभावना है। इस विचार से देखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य मात्र की उन्नति और उत्कर्ष की सीमा ही नहीं है।

इस समय मनुष्य जाति ने बहुत उन्नति कर ली है, इसमें संदेह नहीं। मध्यकाल में विद्या और सुजनता किन्हीं किन्हीं राज दरबारों में दिखाई पड़ती थी। अँगरेज़, फ्रेंच और जर्मनों की उस समय की रहन सहन जंगली मनुष्यों की तरह थी। किसी ने कहा है कि युरोप के लोग आस्ट्रेलिया के जंगली लोगों की अपेक्षा जितने अधिक श्रेष्ठ हैं, उसी प्रमाण में एथेंस नगर के लोग इस समय के लोगों से उन्नति में बढ़े हुए थे। यह कहना मान भी लिया जाय तो भी इसमें शक नहीं कि युरोप की उन्नति की सीमा बहुत विशाल हो गई है और वह निःसंदेह उन्नति की ऊँची सीढ़ी पर पहुँच गया है। यह सभ्यता उसके गद्यपद्यात्मक साहित्य का परिणाम है। मेकाले ने लिखा है कि "ये ग्रंथ पवित्र और विशुद्ध ज्ञान से भरे हुए होकर हमारे चिरकालिक वैभव को बढ़ानेवाले हैं। यह ग्रंथ संग्रह अमूल्य और अमिट है, यह सत्य ज्ञान और कल्पित कथाओं से भरा है और हमारे देश की चिरकाल बनी रहनेवाली संपत्ति है। इसी में सब कवियों के मुकुटमणि और तत्वज्ञानी लोगों में श्रेष्ठ लोगों के ग्रंथ हैं और उसी ग्रंथ

समुदाय के हमारे बाहुबल अथवा व्यापार की अपेक्षा अधिक अच्छे संस्कार मनुष्य जाति पर हुए हैं।"

इस प्रकार के साधन प्राप्त होकर भी ऐसे बहुत थोड़े लोग हैं जो अपने मन की उन्नति करते हैं। शरीर का विकास थोड़े समय के बाद बंद हो जाता है परंतु हमारे मन की शक्ति यदि हम बढ़ाते गए तो वह जीवन के अंत तक बढ़ती ही जायगी।

भविष्यत् में जो मनुष्य जाति की उन्नति होनेवाली है, वह केवल जड़ जगत् के विषयों की खोज ही तक न रह जायगी। इस समय मनुष्य जाति मन की उन्नति के मार्ग पर आक्रमण कर रही है। जिन प्रश्नों का उत्तर पाना आज मनुष्य की कल्पना के परे है उनका उसे ज्ञान होगा और वह एक पैर आगे बढ़ेगा। उसकी मानसिक शक्ति के विकास के साथ उसकी नीतिमत्ता भी उन्नति को प्राप्त होगी।

मनुष्य की उन्नति को चरम सीमा तक पहुँचाने का यत्न थोड़े ही लोगों ने किया होगा—चाहे वे श्रीमान् हों अथवा धन-हीन। यदि सच्चे दिल से यत्न किया जाय तो सब कुछ हो सकता है, क्योंकि मनुष्य प्राणी कोई सामान्य वस्तु नहीं है। शेक्सपियर ने एक जगह लिखा है कि "ईश्वर ने मनुष्य को निर्माण करके अपनी करतूति की परमावधि दिखा दी है। मनुष्य की विचारशक्ति कितनी गंभीर, बुद्धि कितनी असीम और आकार और बोलचाल कितान् व्यवस्थित और अद्भुत है!!"

हम लोगों का यह विश्वास है कि जो प्राणी मृत होता है वह फिर जन्म लेता है। जो लोग इस जन्म में पुण्य का आचरण करते हैं वे दूसरे जन्म में श्रेष्ठ योनि में जन्म लेते हैं और जो लोग पाप का आचरण करते हैं वे नीच जन्म धारण करते हैं। इस मत के कारण हमें अच्छे गुणों के प्राप्त करने की तथा सत्कर्म करने की बलवती इच्छा होती है। मान भी लिया जाय कि भविष्यत् की स्थिति के विषय में हमारा मत ठीक न हो तथापि इसी जन्म में हमें अपने सत्याचरण का अनुभव प्राप्त हो जाता है। एक दिन यदि हम अच्छे काम में व्यतीत करें तो दूसरे दिन भी हम पहले दिन की भाँति, सदाचार में रह कर कार्य करने की ओर झुकेंगे। परंतु यदि हम काम, क्रोध इत्यादि के दास बन गए तो निश्चय रहे हम पीछे हटते जाँयगे और एक दिन नीच पद को पहुँच जाँयगे।

इस जीवन में बहुत सी अनजानी बातें हमारी उन्नति का मार्ग रोकती हैं। जिस जगत् में हम रहते हैं वह इस अनंत विश्व में एक बिंदु के समान क्षुद्र है। एक अकेले मनुष्य ही की क्या जीव मात्र को संसार-यात्रा इस समय की अनंतता में कितनी लघु है? इस अपार संसार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? उसका अंत कब होगा? इन बातों का हमें इस समय कुछ भी अनुमान नहीं होता। तथापि हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य के ज्ञान में जितनी ही वृद्धि होती जायगी उतनी ही अधिक प्रगति उसकी विश्व के रहस्यों के जानने में होगी।

उन्नति कभी धीमी और कभी तेज़ चाल से होती है, इस लिये यह नहीं होगा कि दूसरे लोग उन्नति की चोटी पर पहुँच जाँयगे और हम नीचे ही रह जाँयगे। इसमें संदेह नहीं कि यदि हमने कोई यत्न ही नहीं किया, और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे ही रहे, तो हम उन्नति के पथ पर पीछे रह जाँयगे! परंतु एक न एक दिन हमारा भी उत्कर्ष होगा, हमारा भी अभ्युदय होगा, यही आशा की जाती है।

देह मरे, मन ना मरै, नहीं विचार मृत होत।
कल्प बीतिहै ताहि पर जरै आतमा जोत॥

इस प्रकार मनुष्य की अवस्था उन्नत ही होती जायगी और उसे उत्तम अवस्था प्राप्त होगी; उसका विचार करने से मालूम होता है कि वह अनंत सुखमय होगी।

२२—सद्गति।

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो।
यावच्चेंद्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः।
आत्मन्येव हि तावदेव विदुषो यत्नो विधेयो महान्।
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

—भर्तृहरि।

भाव—जब तक यह शरीर नीरोग और स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इंद्रियों की शक्ति क़ायम है और आयु क्षीण नहीं हुई है तब ही तक विद्वान् को चाहिए कि वह आत्मिक महायत्न को कर लेवे, नहीं तो घर में आग लग जाने के पश्चात् कुआँ खोदने का यत्न करना किस काम का?

हमें पूरी आशा है कि भविष्यत् में क्रमशः मानव जाति की उन्नति ही होती जायगी तथापि व्यक्ति की ओर देख कर यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य जैसे जैसे वयोवृद्ध होता जाता है वैसे वैसे वह उन्नति नहीं करता है। हमें जब बुढ़ापा सताने लगता है तब युवावस्था में जिन भोग विलासों से मन आनंद-युक्त हो जाता था, वे ही अब नीरस और सुखहीन दिखाई देते हैं और मन उनकी तरफ़ से उदासीन होने लगता है। परंतु यदि हमने अपने जीवन को सत्कर्मों में लगाया हो, यदि हमने अपनी युवावस्था में पवित्र जीवन व्यतीत किया हो तो निःसंदेह

जिस यौवन सुख से हम रहित होते जाते हैं उससे भी अधिक सुख हमें उत्तर जीवन के दिनों में प्राप्त होगा । क्रमशः शरीर-बल की कमी होती जाती है और उसके साथ ही श्रम करने की इच्छा कम होती जाती है । मन की आशा और उत्साह के स्थान में उपभुक्त सुखों का सुखदायी स्मरण मात्र रह जाता है परंतु इस स्मरण से हमें आनंद होगा अथवा दुःख होगा यह हमारे पूर्वचारित्र्य पर निर्भर है ।

कुछ लोग ऐसे होते हैं कि बुढ़ापा आते ही उनके जीवन का रंग बिगड़ जाता है, उनकी भोग तृष्णाएँ एक के बाद एक नष्ट होने लगती हैं और जो कुछ रह जाती हैं उनकी लालसा उन्हें नहीं रहती । परंतु सब ही लोगों की यह अवस्था नहीं होती । सब की जीवनी अंत समय में घृणास्पद नहीं हो जाती । कितने ही लोगों को वृद्धावस्था में ऐसी शांति प्राप्त हो जाती है कि जो भोग तृष्णा नष्ट हो जाती हैं उनके सुख से कहीं बढ़-कर सुख उन्हें मिलता है और पूर्व जीवन की अपेक्षा अधिक सुख और संतोष आ जाता है । युवावस्था में सुखों से भले ही अधिक आनंद मिलता है परंतु उन दिनों में एक न एक चिंता चित्त में ऐसी लगी रहती है कि हमारा मन स्थिर और शांत नहीं रहता । परंतु जिस मनुष्य ने परोपकार में अपना शरीर लगाया है उसे उतरते दिनों में जो संतोष और शांति मिलती है उसकी श्रेष्ठता युवावस्था के विषयों के आनंदों में कभी नहीं हो सकती । अंत समय संध्या के समय

के समान है। साँझ के समय आकाश में कभी कभी बादल दिखाई देते हैं परंतु यदि मेघ न हों तो रात रमणीय होगी। उसी प्रकार अंत समय में कभी कभी कष्ट होते हैं परंतु यदि हमारा जीवन पवित्र और परोपकारी हो तो अंतकाल प्रशांत और सुखमय होगा।

सिसरो ने लिखा है कि—"वृद्धावस्था के विषय में मैं जब विचार करता हूँ तो मुझे चार बातों के कारण खेद होता है। प्रथम यह कि बुढ़ापा आते ही व्यवसाय छोड़ देना पड़ता है, दूसरे शरीर दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है, तीसरे भोग की इच्छा नष्ट सी हो जाती और चौथे वृद्ध वय में मृत्यु समीप आ खड़ी होती है।"

इन कारणों पर टुक विचार करना चाहिए। जो व्यवसाय हम ज़िंदगी भर करते रहे उससे छुट्टी पाकर विश्राम और शांति-सुख यदि हमें प्राप्त हो तो उसमें कुछ भी बुराई नहीं है। दूसरे, शरीर दुर्बल हो जाता है, यह उसका स्वाभाविक गुण है। परंतु यदि युवावस्था में हमने योग्य रीति से संयम रख कर अपने शरीर-बल को रक्षित किया हो तो बुढ़ापे में शरीर इतना निर्बल नहीं हो जाता जितना सर्वसाधारण का हो जाता है। तीसरे, भोग-तृष्णा नष्ट सी हो जाती है, सो तो बहुत ही अच्छा है। "युवावस्था में जो हमें सताया करती थी वह भोग-तृष्णा यदि वृद्धावस्था में नष्ट सी हो जाय तो बुढ़ापे की यह श्रेष्ठता क्या कम है?" यह प्रश्न इमरसन ने

किया है। इसका उत्तर नकार में ही होगा। वृद्धावस्था में हमारी सात्विक बुद्धि दुर्बल होगी, यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। उलटे तमोगुण का मल नष्ट हो जाने से वह अधिक ही उज्ज्वल और पवित्र होगी।

बहुतेरे मनुष्य यह जानते हैं कि इस राह से चलने से हमें सुख नहीं होगा तथापि वे उसे छोड़ते नहीं, यह कितने अचरज की बात है? ऐसे लोग अपने को सुखी तो बनाते ही नहीं किंतु औरों को दुःख देते हैं। "पुण्यवान् पुरुषों की श्रेष्ठता सूर्य से भी अधिक है। सच्चरित्र और धर्मशील मनुष्य के समान दूसरा सूर्य ही संसार में नहीं है। उसके दिव्य मन का अलौकिक प्रकाश ही जगत् को जीवित रखनेवाली अग्नि और प्रकाश है"। प्लेटो ने मनुष्य को तीन स्वभाव-धर्मों का बना हुआ कह कर एक रूपक द्वारा उसकी दशा का वर्णन किया है। मनुष्य अर्थात् जीव सारथी है। पाप और पुण्य दो घोड़े हैं और संसार रथ है। पुण्य का घोड़ा रथ को आगे ले जाने का यत्न करता है और पाप का घोड़ा रथ में नहीं चलता, विघ्न करता है, वह बड़ा दुष्ट, अड़ियल और दुखदाई है। ऐसी जोड़ी को हाँकना सरल नहीं है। यदि सारथी सावधान और चतुर होगा तो वह दोनों को क़ाबू में रख कर उन्नति के पथ पर चलेगा नहीं तो सब का नाश हो जायग।

मृत्यु का निकट आना वृद्धावस्था का एक दोष है। बहुत से लोग मृत्यु की कल्पना से भय खाते हैं और इसी

कारण उनका जन्म दुःखमय हो जाता है । परंतु क्या सचमुच मृत्यु बड़ी घोर आपत्ति है ? यह प्रश्न विचार करने योग्य है।

प्रेम, ज्ञान, संतोष, अतुल देन भगवंत की।
दिव्य सुखन के कोष, इनते जीवन सुफल है॥
जीव कहै मैं निज सखा, और नहीं जग कोय।
मृत्यु गहत है हाथ जब, नहिं कोउ ठाढ़ो होय॥
मृत्यु अहै उत्तम सखा, जा में सबै समाय।
अंत समै प्रिय मित्र को, पार करावै आय।—कॉलरिज।

सेनेका ने कहा है कि मृत्यु से सब का अंत होता है और बहुतों को वह विपत्ति से छुड़ाती है। उसकी बहुत से लोग इच्छा करते हैं और जिसे जीवन भार हो जाता है वह कहता है कि "अब मौत मुझे ले जाय तो अच्छा।" उसे यदि मृत्यु आ जाय तो वह मृत्यु के अनंत उपकार मानता है। उसने क्लेशमय जीवन को अधिक दुःख की परंपरा से बचाया तो उसका कितना उपकार हुआ, यह बात विचारणीय है।

महाकवि शेक्सपीयर ने मृत्यु के विषय में बड़े गंभीर विचार लिखे हैं—"डंकन अब श्मशान में गहरी नींद सो रहा है। वह सांसारिक झंझटों से मुक्त होकर प्रशांत सुख का आनंद उठा रहा है । उसके वैरियों ने अपनी शक्ति भर उसे हानि पहुँचाई है। अब शस्त्र, विष, मत्सर और शत्रु इन में से एक भी उसे बाधा नहीं कर सकता।"

"जिस स्थान का आज तक किसी को पता नहीं चला और जो कोई प्रवासी उस प्रदेश में प्रवेश कर गया वह कभी लौट कर नहीं आया" ऐसा कितने ही लोग मृत्यु को समझते हैं। परंतु वस्तुतः देखा जाय तो कितने ही लोग मृत्यु को अंत नही मानते, वे अपने अंत समय में शांतचित्त और क्लेश-रहित हो जाते हैं। बिड नामक ग्रंथकार अपने अंतिम बीमारी के दिनों में इंजील का अनुवाद कर रहा था। जिस रोज़ वह मरने को था उसके लेखक ने कहा—"आपकी शक्ति तो क्षीण हो चली और अभी एक अध्याय का अनुवाद बाक़ी है।" बिड ने उत्तर दिया—"वह कुछ कठिन नहीं है। तुम बहुत शीघ्र लिखते जाओ।" वह लिखता गया। अध्याय के समाप्त होने पर वह बोला—"महाराज! अध्याय समाप्त हो गया।" तब बिड बोला "तूने सच कहा, सब ग्रंथ ही समाप्त हो गया।" तदनंतर लोग उसे प्रार्थना करने के नियत कमरे में ले गए और बैठा दिया और उसने—"ईश्वर की जय हो" कह कर अपना शरीर त्याग दिया।

मोझार्ट नामक एक कवि की मृत्यु के विषय में भी ऐसी ही जनश्रुति है कि वह एक गीत लिख रहा था। वह अधूरा ही उसके बिछौने पर पड़ा हुआ था। उसमें स्वरों की वह कुछ विशेष मधुर व्यवस्था करने के यत्न में लगा हुआ था कि इतने में अपनी पत्नी की गोद में मस्तक रख कर उसने प्राण त्याग दिया।

सेटो का देहपात भी लिखते समय हुआ था। ल्यूकन अपने एक ग्रंथ में से चुने चुने पद्य लिख के उन्हें पढ़ कर सुनाते सुनाते गतप्राण हुआ। ब्लेक गाते हुए मरा। कितने ही लोग निद्रा में मृत हो जाते हैं। जब मनुष्य आसन्नमरण हो जाता है तब उसको मृत्यु का भय कम हो जाता है और वह दुःख भी नहीं करता। ऐसे बहुत उदाहरण देखने में आते हैं और वैद्य लोग ऐसे कई लोगों को देख कर अनुभव करते हैं। युद्ध में लड़ते लड़ते या अचानक गोली लग कर जिन लोगों की मृत्यु होती है उन्हें कुछ भी क्लेश नहीं होता होगा।

यहाँ तक ऐहिक मृत्यु के विषय में हुआ, अब परलोक को लीजिए। परलोक के विषय में मुख्यतः दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। कुछ लोग मानते हैं कि आत्मा का नाश नहीं होता परंतु जीवात्मा चिरजीवी नहीं है। जीवात्मा की यह प्रबल इच्छा है कि मेरा वंश बना रहे, इसलिये वह संतान-उत्पत्ति के लिये यत्न करता है और पुत्र होते ही "आत्मा वै पुत्रनामासि" इस अटल विश्वास के कारण वह सुखी होता है। मनुष्य का जीवन उसके संतान के रूप में निरंतर जीवित रहता है। जैसे सेंट पाल ने कहा है कि–"गेहूँ का एक दाना आगामी वर्ष के गेहूँ के पौधे में दिखाई देता है।" आत्मा नित्य है परंतु उसे अपने पूर्व जन्म का यत्किंचित् भी स्मरण नहीं रहता, यह कल्पना करने से कुछ लाभ नहीं है। यदि स्मरण रहता तो यह जीवात्मा जिसका पूर्व जन्मों में अच्छे

कर्मों की अपेक्षा बुरे कर्मों का संग्रह अतीव बड़ा है, उनकी स्मृति से दुखी ही रहता, क्योंकि कर्म बिना कर्मफल के भोग के कभी छूटते नहीं। इसी कारण सब लोगों की यही समझ है कि आत्मा यद्यपि देह के बंधन से मुक्त हो जाती है तथापि अंतर में अपनी याद रहती है और जिस प्रकार नींद से जागृत होते हैं उसी प्रकार वह मृत्यु के अनंतर जागती है। मिल्टन ने लिखा है कि करोड़ों आत्माएँ वायु रूप से, हम जागते हों अथवा सोते हों, पृथ्वी और आकाश में संचार करती रहती हैं, जैसे दिन में हम तारागणों की तरफ़ देखें तो वे हमें दिखाई नहीं देते तथापि वे हमारी तरफ़ देखते हैं। तात्पर्य यह कि यद्यपि आत्मा की स्थिति के विषय में हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ तथापि मृत्यु से दुर्गति ही प्राप्त होती है, यह मानना उचित नहीं है। समय की गति के साथ हमारा शरीर-बल कम न हो और हमारी शक्ति ज्यों की त्यों बनी रहे, ऐसी इच्छा करना अच्छा है परंतु इससे कोई अमर न होगा। यदि अमर होना हमरे भाग्य में न हो और यह बात सिद्ध है कि अनंत जन्म के कर्मों के फलभोगी जीव को अमरत्व मिलना कुछ सहज बात नहीं है तो यह बात युक्ति-संगत मालूम होती है कि यथासमय यदि मृत्यु हमें प्राप्त हो तो हमें उसका आदर करना चाहिए।

नाभिनंदेत मरणं, नाभिनंदेत जीवितं।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देश भृतको यथा॥ —मनु।

भाव—मनुष्य को चाहिए कि वह न मृत्यु का आनंद मनावे न जीवन का। उसे चाहिए कि वह यथासमय प्राप्त होनेवाली मृत्यु की राह देखे, जैसे नौकर अपने स्वामी की आज्ञा के लिये तत्पर रहता है।

प्राकृतिक नियमों के अनुसार हर एक वस्तु की आयु का समय नियत है। उसी प्रकार मनुष्य के जीवन के लिये भी काल की मर्यादा नियत है। इस जीवन रूपी नाटक का अंतिम दृश्य वृद्धावस्था है । जब जरावस्था में मनुष्य की इंद्रियों की शक्ति का पतन हो जाता है, उसका मन निरानंद और खिन्न रहता है और वह अपने जीवन से ऊब जाता है तब वह इह लोक की यात्रा का अंत करना चाहता है। इस विचार से सर्वसाधारण मृत मनुष्य के लिये जो शोक करते हैं वह व्यर्थ है। क्योंकि—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां, विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्, यदि जंतुर्ननुलाभवानसौ॥

—कालिदास।

भाव—मृत्यु देहधारियों की प्रकृति है, स्वभाव है। जीवित रहना उस प्रकृति के विरुद्ध है। यदि पल भर भी जीव जीवित रहा तो वह उसके लिये बड़ा लाभ है। अथवा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—भगवद्गीता।

रोवैं प्राणी व्यर्थ नयन तें नीर बहावैं।
सुनि काहू को मरण व्यर्थ संताप बढ़ावैं॥
यह नहिं जानत मृतक स्वर्गसुख भोगि रह्यो है।
विहरत सहित अनंद शांति संतोष लह्यो है॥

जीवन यात्रा के सुदीर्घ मार्ग पर चलते चलते थके हुए श्रांत पथिक के विचार ऐसे हुआ करते हैं—

जनम के दुख का अब अंत है, विरह का भय भी अब शांत है।
जगत के अनुताप रहे न हैं, मन हुआ अब शांत कहीं रहें॥
हम चले निज धाम जहाँ बना, सुख अनंत वहाँ नित भोगना।
यह विचार हरै मन की व्यथा, मत करो तुम शोक कभी वृथा॥

कविवर शेली ने लिखा कि निद्रित अवस्था से जाग कर जिस प्रकार मनुष्य उत्साही बन जाता है उसी प्रकार संसाररूपी घोर निद्रा से जाकर मरने पर वह मुक्ति-सुख को पाता है।

कितने ही लोगों की कल्पना है कि देह के बंधन से मृत्यु हमें छुटाती है और हमें अपने पाप पुण्यों का हिसाब देने के लिये ईश्वर के सम्मुख खड़ा करती है। परंतु मृत्यु मृत्यु नहीं है, वह हमारे स्वर्ग-सुख का द्वार है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

अवगच्छति मूढ़चेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थितधीस्तु तदेव मन्यते, कुशलद्वार तथा समुद्धृतम्॥
—कालिदास।

छाया—प्रियनाश, विमूढ़चित्त को, हिय के सूल सम व्यथा करै ॥
स्थितधी पुनि मृत्यु को कहैं, कुशलद्वार अहै गतासु को ॥

हम जब तक जीवित हैं तब तक देही हैं और मरने के पश्चात् विदेही आत्मा रूप हो जाते हैं। अजरामर आत्मा का यह शरीर केवल नाशमान् और बाह्य आकार मात्र है। आत्मा को मरने के पश्चात् सद्गति प्राप्त होती है, यह विश्वाश जब तक माना न जायगा तब तक ईश्वर की लीला को न्याय-संगत कहते नहीं बनेगा। किसी तरह से देखा जाय, जरापीड़ित के लिये मृत्यु केवल मुक्ति है। "जहाँ दुष्ट लोग हमें सताते नहीं और श्रांत पथिक जहाँ विश्राम पाते हैं, वही स्वर्ग है।" ऐसा ईसाई धर्मग्रंथों में स्वर्ग का वर्णन है।

यदि स्वर्ग में भी यहाँ की तरह जीवन-कलह हो तो स्वर्ग और इस लोक में रहना एकसा ही है। क्योंकि यदि हम इस जगत् में सुख और शांतिपूर्वक रह सकें तो यह पृथ्वी ही क्या कम सुंदर है? इसमें संदेह नहीं कि किसी निर्जीव जड़ पदार्थ की भाँति सर्वदा स्थिर बने पड़े रहना शांतिपूर्वक रहना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे पड़ा रहना आनंद-दायी नहीं होगा। ऐसा अस्तित्व दुःखमय हो जायगा। दूसरे स्वर्ग भी यदि बार बार बदलता जाय तो वहाँ भी मन को अशांति प्राप्त होगी, और उस पूर्ण सुख में एक प्रकार की कमी ही समझनी चाहिए। साथ ही उस स्वर्ग-भवन में अनंत काल तक एक सा सुखोपभोग ही करते रहने से भी जीव ऊब

जायगा, क्योंकि अनंत काल पर्यंत स्वर्ग में नित्य नूतन आनंद का भोग प्राप्त होने की व्यवस्था परमात्मा ने की है अथवा नहीं, इसके विषय में कुछ निश्चय रूप से हम नहीं कह सकते। तथापि पदार्थविद्या की ओर देखने से इन सब बातों का उत्तर मिल सकता है, क्योंकि यह कौन कह सकता है कि इस जगत् में हमें भ्रम के जाल में फँसानेवाले रहस्यों का स्वर्ग में निश्चयात्मक ज्ञान होकर अखंड सुख प्राप्त नहीं होगा ? वहाँ हमें नई कल्पनाओं का लाभ होगा। प्राचीन समय का जो इतिहास अज्ञात है उसका ज्ञान होगा और संसार के भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणी और वनस्पतियों का ज्ञान होगा। आकाश के अनेक गूढ़ तत्त्व ज्ञात होंगे। असंख्य तारागणों के दिव्य चमत्कार और उनके भी परे आकाशमंडल के अद्भुत दृश्य दिखाई देंगे। जब हम आसमान की ओर टकटकी लगा कर बैठते हैं तब हमारे आश्चर्यान्वित अंतःकरण में यह भाव उत्पन्न होता है कि क्या हमारे भाग्य में यह बात हो सकती है कि हम भी उनके साथ आनंद से भ्रमण करें। उस समय स्वर्ग के अनेक सुखों की कल्पना होती है। एक संदेह फिर भी रह जाता है कि इस प्रकार जो अपार स्वर्ग-सुख है, उसका आदि से अंत तक भोग करने के लिये यदि हमें चिरायु बना दिया जाय तो भी क्या काल की अनंतता उसके लिये पर्याप्त होगी ?

"तपस्वी, धर्मवादी और धर्म के लिये प्राणों का बलिदान

देनेवाले तथा जो स्वमत ग्रहण करने को तैयार नहीं होते उन्हें मार डालनेवाले इत्यादि लोगों ने जो स्वर्ग मान रक्खा है वहाँ मेरा स्थान ईश्वर ने नहीं बनाया है। जो स्वर्ग नित्य शुद्ध और प्रेम से निरंतर पूर्ण है, जहाँ उत्तम ज्ञान का निवास है और जहाँ उसे संपूर्णतया समझने की शक्ति रखनेवाली असीम बुद्धि हमें प्राप्त होती है, जहाँ हमारे प्रेम के संबंधी सर्वदा हमारा साथ देते हैं और हम उन्हें दुःख नहीं देते हैं, जहाँ हमें जो महत्कार्य करना है उसके संपादन के योग्य बुद्धि का बल हमें प्राप्त होता है, जहाँ सब रहस्यों का प्रकाशन और सब मनोरथों की सिद्धि अवश्यमेव होती है ऐसा स्वर्ग मेरे लिये ईश्वर ने बना रक्खा है।" यह प्रेग की स्वर्ग-विषयक कल्पना है।

सिसरो ने लिखा है कि इस कलंकित संसार का संबंध छूट कर जिस दिन मैं स्वर्ग के निवासी मुक्त जनों के समुदाय में पहुँच जाऊँगा उस दिन अहोभाग्य होगा ! क्योंकि वहाँ सब सत्पुरुषों का समागम होगा। मनुष्य की आत्मा अमर है, यह जो मेरा विश्वास है वह यद्यपि असत्य और भ्रमपूर्ण हो तथापि इस भ्रम का मैं प्राणों से भी अधिक पालन करूँगा। और जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक उसके दूर करने की इच्छा भी नहीं करूँगा और कुछ अज्ञानी लोगों के अनुमान के अनुसार यद्यपि कदाचित् मरने के पश्चात् मुझे पूर्व जन्म का कुछ भी ज्ञान नहीं रहेगा तथापि इस जगत् के

मृत तत्वदर्शी लोग मेरी भ्रामक कल्पना का परिहास न करेंगे।"

मृत्यु के अनंतर मनुष्य की स्थिति के विषय में सुक्रात ने लिखा है "मृत्यु तो इष्ट है, इस बात के मानने के लिये दृढ़ प्रमाण हैं। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को या तो शून्याकार प्राप्त होकर सब ज्ञान नष्ट हो जाता है अथवा उसकी भिन्न स्थिति होकर आत्मा इस जगत् से चली जाती है और अन्य जगत् में निवास करती है। यदि मृत्यु के पश्चात् सब ज्ञान नष्ट होकर, जिस प्रकार हमें प्रगाढ़ निद्रा आती है उसी तरह आत्मा भी सो जाती हो तो भी मृत्यु एक अनिर्वचनीय लाभ है, क्योंकि जिस रात्रि में गहरी निद्रा लगती है उसके साथ साम्य करने से यह मालूम होगा कि ऐसी रातों की संख्या हमारे जीवन में बहुत ही थोड़ी है जिसमें हमें सच्ची गहरी नींद लगी हो। इसलिये मृत्यु यदि गहरी नींद हो तो उसे एक बहुत बड़ा लाभ ही समझना चाहिए।"

"जहाँ आज तक के मृत जीव निवास करते हैं वहाँ हमारे देहत्याग के पश्चात् यदि हमारी आत्मा जाती हो तो मृत्यु से अधिक लाभ क्या हो सकता है? इस नए जगत् में हमारे पहुँचने पर, इस जगत् के बनावटी न्यायाधीश से छूट कर, स्वर्ग के सत्यप्रिय न्यायमूर्ति के सामने हमारे पाप-पुण्यों का हिसाब जाँचा जायगा, क्योंकि जिन लोगों ने इस संसार में सदाचार से रह कर बहुत पुण्य किया है वेही स्वर्ग में न्याया-

धीश हैं। यदि किसी को वहाँ उन सब महात्माओं से वार्तालाप करने का शुभ अवसर प्राप्त हो जो इस जगत् से गए हैं तो क्या वह सब कुछ छोड़ जाने को तैय्यार न होगा? मैं कहता हूँ यदि यह सब सत्य हो तो मुझे बार बार मृत्यु आवे। मुझे स्वर्ग-प्राप्ति होने पर जिन लोगों को इस जगत् में अन्याय के कारण देहदंड भोगना पड़ा था ऐसे प्राचीन और ऐतिहासिक महापुरुषों से मिल कर उनसे बात चीत करने का सौभाग्य प्राप्त हो, तो मैं अपने दुःख से उनके दुःख की तुलना करके देखूँगा और उसे बहुत हल्का पाकर अत्यंत आनंदित और संतुष्ट होऊँगा। साथ ही वहाँ मुझे इस बात का निश्चय करने का बड़ा अच्छा मौक़ा हाथ आवेगा कि सच्चा तत्वज्ञ और ज्ञानी कौन है और केवल ज्ञानी बननेवाले कौन हैं। वहाँ प्राणि मात्र को केवल सुख ही नहीं होता किंतु वह अमर भी हो जाता है।"

किसी सत्पुरुष को जीवित रहते हुए अथवा मरने के पश्चात् किसी तरह की बाधा नहीं होती। उसे अथवा उसके सुहृद मित्रों को ईश्वर कभी नहीं भूलता। भवबंधन से छुटकारा होना मेरे हित की बात है। इसी कारण अपराध लगानेवालों पर अथवा देहांत दंड देनेवालों पर मैं क्रोध नहीं करता। उन्होंने मेरा कुछ भी बुरा नहीं किया। केवल इतना ही है कि मेरा भला होने की उन्हें बिलकुल इच्छा नहीं है, इस लिये मैं बड़े मृदु शब्दों से उनका निषेध करूँगा। मेरे

प्रयाण का समय निकट आ गया है। अब हम और आप अपनी अपनी राह जाने को हैं। मैं मरने के लिये और तुम जीवित रहने के लिये तैयार रहो परंतु हम में से किसकी अवस्था अच्छी होगी, सो भगवान् जाने।

यदि मरते समय दुष्ट कृत्यों के लिये हमारा अंतःकरण हमें गुप्त रीति से बाधा न करता हो तो फिर किसी बात की चिंता नहीं है। और मरण के अनंतर हमारी क्या गति होगी, यह यद्यपि निश्चित रूप से कह नहीं सकते तथापि सद्गति की आशा न करनी उचित नहीं है। इस संसार का झगड़ा निबटा कर "जिस स्थान में दुष्ट लोगों की चेष्टाएँ नहीं चलतीं, और श्रांत जीव को विश्राम प्राप्त होता है वहाँ जाने के लिये हम क्यों न तैयार रहें?"

जिनके गुणों का यश हमने केवल सुना है, जिनके ग्रंथों के पढ़ने से हमें आनंद मिला है और जिन्हें हम प्रीति की दृष्टि से देखते हैं ऐसे लोगों का यहाँ वियोग हो चुका है। जिस स्वर्ग में उनके दर्शन होंगे उस स्वर्ग में सर्वशक्तिमय, चराचर-वत्सल परमेश्वर की दयालुता पर विश्वास रख कर जब हम प्रवेश करेंगे तब सब सांसारिक बंधनों से हम मुक्त हो जाँयगे और स्वर्गीय महात्माओं के समुदाय में हम सम्मिलित होंगे, तब सब ऐहिक सुख और भोग हमारे स्वर्गीय सुख के सामने तुच्छ प्रतीत होंगे!
